जागोरी की पत्रिका
जनवरी-जून 2015

हम सबला

इस अंक में
खुशहाली और स्वास्थ्य
हमारा अधिकार

हम सबला

जनवरी-जून 2015

इस अंक में

संपादन एवं अनुवाद
जुही जैन

संपादन सहयोग
वीणा शिवपुरी
अनामिका
सीमा श्रीवास्तव
शर्मीला भगत
गीता नम्बीशन

सलाहकार
जया श्रीवास्तव
विभूति पटेल
सुनीता धर

विशेष आभार
इमराना कदीर
जशोधरा दासगुप्ता
सरोजिनी
मधुबाला

सामग्री सहयोग
जागोरी रिसोर्स सेंटर

कवर्स फ़ोटो:
साभार: चेतना, अहमदाबाद

चौपाल: सभी चित्र जागोरी नोटबुक *'फ़ैसले और फ़ासले'-1998* से लिए गए हैं।
चित्रांकन: बिंदिया थापर

डिजाइन:
विनय आदित्य, यशवंत सिंह रावत

मुद्रण: सिस्टम्स विज़न
systemsvision@gmail.com

बी-114, शिवालिक, मालवीय नगर
नई दिल्ली 110017
ई-मेल: humsabla.patrika@jagori.org
वेबसाइट: www.jagori.org
दूरभाष: 26691219, 26691220
हेल्पलाइन: 26692700

हमारी बात — सीमा श्रीवास्तव — 1

लेख

महिला स्वास्थ्य, औषधियां तथा नीति- चुनौतियां	मीरा शिवा	2
बुजुर्ग महिलाओं की स्वास्थ्य ज़रूरतें व अधिकार	पल्लवी पटेल	7
घरेलू हिंसा व स्वास्थ्य हस्तक्षेप	विभूति पटेल	9
मानसिक स्वास्थ्य और खुशहाली	किश्वर अहमद-शिराली	12
विकलांगता और यौनिकता	अनीता घई	15
दाइयां: बुद्धिमती, कुशल और अमूल्य	वैद्य स्मिता बाजपेई	41

कविता

हैरान हूं/खिड़कियां	रजनी तिलक	6
अकेली औरत का हंसना/कम से कम एक दरवाज़ा	सुधा अरोड़ा	11/14
आत्मा की शांति	पूनम तुषामड़	17
फ़ैमिली प्लानिंग	कमला भसीन	39
किसी दिन उनकी स्त्री बनकर रहना	विष्णु नागर	47
पगड़ी/जच्चाघर की मोनकिया धाय	अनामिका	50/53
तारों की किताब	पवन करण	64

संवाद

महिलाओं की आजीविका व स्वास्थ्य	शशि भूषण पंडित	48
अरुणा शानबाग: अहम सवाल	जुही जैन	51

अभियान

जीवन रक्षक दवाएं	कल्याणी मेनन सेन	23
स्वच्छ अभियान		45

चौपाल

परम्परा		25
सुभाषिनी मिस्त्री का अस्पताल	जुही जैन	26
किशोर गर्भावस्था— कुछ अहम मुद्दे		28
सरकारी डिस्पेंसरी की कमी	दुनु रॉय	30
जनसंख्या नियंत्रण: कितनी आवश्यकता, कितनी राजनीति	संगीता मौर्य व ईशा सारस्वत	34
रजोनिवृत्ति कोई हौवा तो नहीं	जुही जैन/वीणा शिवपुरी	36

कहानी

कोठरी में लड़की	मृणाल पांडे	54

आमने-सामने

जेंडर सम्बन्धों में बदलाव	सतीश कुमार सिंह	18
जेंडर आधारित हिंसा	नाज़िया हसन	21

पुस्तक परिचय — वीणा शिवपुरी — 60

फ़िल्म समीक्षा — जुही जैन — 62

हमारी बात

मेरे अंदर है बहुत सी आवाज़ें –
चीत्कार, धिक्कार और चीखने की आवाज़ें
अंतर्मन का यह शोर
झुंझलाकर ठीलता रहता है भिले होंठ।

जूझता रहता है निरन्तर
बाहर की ख़ामोशियों से।
वो ख़ामोशियां जो ओढ़ा दी गई हैं
सदियों से मुझ पर
जो सिखाती हैं गुम हो जाना
खुद की पीड़ाओं के साथ।

देह की ऐंठन, तपन के साथ
जुटे रहना है घर के कामों में
खिदमत में उनकी जो
इज़ाफ़ा करते रहते हैं
हमारी ख़ामोशियों में।

कभी कभी मन करता है
उधेड़ दूं मुंह की सीवन
पिघलने दूं सदियों का गुबार कि
वो भी चख लें चीत्कार का दंश।
जान लें एक ख़ामोश देह में
दबे ज्वालामुखी के आवेग को!

सीमा श्रीवास्तव
नारीवादी कार्यकर्ता व लेखिका

लेख

महिला स्वास्थ्य, औषधियां तथा नीति-चुनौतियां

मीरा शिवा

जन स्वास्थ्य के क्षेत्र में, व्यापक प्राथमिक स्वास्थ्य देखरेख से जुड़ा *अल्मा अटा चार्टर 1978* एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर है। इसने इस बात पर रोशनी डाली कि स्वास्थ्य की स्थिति तय करने में सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक पहलू अहम होते हैं। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि अब तक स्वास्थ्य देखरेख के प्रति सीधी खड़ी और कटौतीपूर्ण सोच अपनाई गई है जो अस्वस्थता के असली कारणों की अनदेखी करती है। उदाहरण के लिए सुरक्षित पानी, पर्याप्त पोषण, रोज़गार, आश्रय आदि का अभाव अस्वस्थता के कारण हो सकते हैं। *अल्मा अटा* के रचियता, डब्ल्यू.एच.ओ. के प्रमुख निदेशक डॉ. हैफ़डन माहलर ने स्वास्थ्य देखरेख में बढ़ते औषधिकरण को 'नव उपनिवेशवाद' का नाम दिया है।

नए उदारवादी बाज़ार की अगुवाई में, औद्योगिक कम्पनियों से प्रभावित, असमानता बढ़ाने वाली नीतियों के आने से औरतों, बच्चों और बूढ़ों, विशेष रूप से जो आर्थिक-सामाजिक रूप से अभावग्रस्त हैं, की परिस्थितियां और मुश्किल हो गई हैं। एक ओर क्रयशक्ति का अभाव तथा दूसरी ओर खाद्य पदार्थों, बुनियादी ज़रूरती सामानों और स्वास्थ्य देखरेख की आसमान को छूती कीमतें। इन हालातों में अस्वस्थता के असली कारणों की अनदेखी करने तथा उनके योगदान व श्रम को अहमियत न देने से स्थितियां और बिगड़ गई हैं।

हमें औषधियों तथा स्त्रियों के स्वास्थ्य के मुद्दे को ऊपर दी गई सच्चाइयों के संदर्भ में देखना होगा। बड़ी संख्या में औरतों में ख़ून की कमी है। घरेलू काम, रोज़गार और बच्चे जनने का दोहरा, तिहरा बोझ उठा रही औरतों में से 36.5% का बी.एम.आई. (बॉडी मास इंडैक्स) 18.5 से भी कम है जिसका मतलब है, लगातार भूखे रहना। स्पष्ट है कि उनमें कमज़ोरी, थकान, सांस फूलना जैसी कुपोषण से होने वाली स्वास्थ्य समस्याएं तो होंगी ही। इनके अतिरिक्त गर्भावस्था और प्रसव के समय की जटिलताएं अधिक गंभीर समस्या हैं। प्रसव के दौरान या बाद में भारी रक्तस्राव से अनेक औरतें अपनी जान गंवा देती हैं। प्रसव पश्चात के रक्तस्राव से निपटने के लिए तो ज़ाहिर है ऑक्सीटॉसिक जैसी अत्यावश्यक औषधियों की ज़रूरत होती है। चूंकि 20% मातृत्व मृत्यु का संबंध ख़ून की कमी से होता है, उसकी रोकथाम के लिए न सिर्फ़ उचित चिकित्सा की ज़रूरत है बल्कि उतनी ही अहमियत पहले किए जाने वाले रोकथाम के उपायों को बेहतर करने की भी है। औरतों को पर्याप्त ऊर्जा, प्रोटीन, लौह तत्व, कैल्शियम, विटामिन सी/ए जैसे प्राकृतिक सूक्ष्म पोषण से भरपूर आहार की ज़रूरत है जो सस्ता और विविधतापूर्ण हो।

भारी रक्तस्राव से निपटने के लिए आपात स्थिति में रक्त की आसानी से उपलब्धता, रक्तदाताओं की मौजूदगी, रक्त बैंक तथा सुरक्षित रक्त चढ़ाने की सुविधाएं भी होनी चाहिए। इसके लिए आवश्यकता है प्रशिक्षित व

हुनरमंद स्वास्थ्य कर्मियों की जो जेंडर संवेदनशील हों तथा संभावित जटिलताओं की रोकथाम करने व उनसे निपटने में सक्षम हों।

गर्भावस्था के दौरान होने वाली जटिलताओं के तहत, रक्तचाप बढ़ना व गर्भ में विषाक्तता हो सकती है जिसके लिए रक्तचाप घटाने की औषधियां चाहिए। संक्रमण के मामलों में ऐन्टी बायोटिक दवाइयां दी जानी चाहिए जिनका इस्तेमाल उचित मात्रा में उचित समय के लिए किया जाना अहम है।

यदि बाधित प्रसव पीड़ा है तो ऑप्रेशन द्वारा प्रसव कराना होगा जिसके लिए पीड़ाहर औषधियों तथा प्रशिक्षित डॉक्टर की उपस्थिति ज़रूरी है। नवजात शिशुओं की ऊंची मृत्युदर के चलते उनकी देखभाल भी उतनी ही आवश्यक है जितनी माताओं की ख़ासतौर पर यदि नवजात शिशु एक बालिका है।

यौन व प्रजनन स्वास्थ्य समस्याओं से निपटने के लिए अत्यावश्यक औषधियों की एक लम्बी सूची है जिसमें आपात गर्भ निरोधक सहित (जिन्हें बलात्कार के परिणाम स्वरूप गर्भवती हुई स्त्रियों को उपलब्ध कराया जाना चाहिए) अन्य गर्भ निरोधकों से लेकर संक्रमणरोधी दवाइयां शामिल हैं जो यौन संक्रामक रोगों (एस.टी.डी.) व प्रजनन मार्ग संक्रमणों (आर.टी.आई.) तथा मूत्रमार्ग संक्रमणों (यू.टी.आई.) से निपटने के लिए आवश्यक हैं।

अन्य प्रकार के कैंसरों के साथ-साथ स्त्रियों में सबसे आम स्तन व बच्चेदानी के मुंह के कैंसर की दवाइयों और रोग की देखभाल तक उनकी पहुंच अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अधिकांश के लिए ये दोनों चीज़ें उनकी जेब से बाहर हैं।

स्त्रियों को मलेरिया, टीबी, टायफॉइड, दस्त, पीलिया जैसे अन्य संक्रामक रोग भी होते हैं। अब बढ़ती संख्या में वे मधुमेह, उच्च रक्तचाप, दमा, कई प्रकार की फेफड़ों की बीमारियों (रसोई के धुएं और अच्छे ईंधन के अभाव में) की भी शिकार हो रही हैं।

मानसिक स्वास्थ्य समस्याएं, बाहरी कारणों से होने वाला अवसाद जिसके पीछे दहेज की मांग, बेटे की मांग और उसके लिए ज़बरदस्ती गर्भपात घरेलू हिंसा, काम की जगह पर यौन उत्पीड़न, अपने आस-पास के लोगों चाहे वे परिवार जन हों या सहकर्मी अथवा चिकित्सा सेवा प्रदाता, की पितृसत्तात्मक सोच जैसे कई कारण हो सकते हैं। औरतें मानसिक तनाव, चिन्ता, उदासी भोगती हैं जिनके कारण अनेक जटिल रूपों में मनोदैहिक गड़बड़ियां पैदा हो जाती हैं।

औरतों की शारीरिक, मानसिक, सामाजिक स्वास्थ्य समस्याओं से निपटने के लिए उनकी स्वास्थ्य आवश्यकताओं को ऊंची प्राथमिकता देने की ज़रूरत है। केन्द्रीय स्वास्थ्य बजट जो सकल घरेलू उत्पाद का 1.2% है, को बढ़ाना उस दिशा में एक क़दम हो सकता है। अत्याधिक निजी स्वास्थ्य सेवा व्यवस्था के चलते 70-80% कीमत अपनी जेब से देनी पड़ती है जिसके फलस्वरूप भारी भुगतान और भयंकर कर्ज़दारी पैदा होती है। इसे बदलना होगा। इसके लिए अत्यावश्यक प्राणरक्षक औषधियों को निशुल्क मुहैया कराने के कार्यक्रम की ज़रूरत है। *विश्व स्वास्थ्य संगठन* द्वारा तैयार अत्यावश्यक औषधि सूची जो सत्तर और अस्सी के दशक से उपलब्ध है और समय-समय पर संशोधित की जाती है, के सिद्धान्तों का पालन होना चाहिए। उत्यावश्यक औषधियों की राष्ट्रीय सूची 2011 अब 2015 में संशोधित की जाएगी।

दवाइयों का इस्तेमाल सोच-समझकर किया जाना चाहिए जिसके लिए मानक चिकित्सा दिशानिर्देश मौजूद हैं जिनका पालन किया जाना चाहिए। अध्ययन बताते हैं कि हमारे बाज़ार न सिर्फ़ असंगत, अनावश्यक और कुछ संभावित रूप से ख़तरनाक दवाइयों से भरे पड़े हैं बल्कि अनेक बार जब अत्यावश्यक दवाइयां उपलब्ध होती हैं तो व्यर्थ में उनका इस्तेमाल किया जाता है।

इनमें अनेक दवाइयों के गंभीर हानिकारक प्रभाव हो सकते हैं। कुछ दवाइयां विरूपी प्रभाव डालने वाली होती हैं जैसे अजन्में शिशुओं में जन्मजात रोग और कमियां पैदा करना। कुछ औषधियां स्तनपान कराने वाली स्त्रियों को नहीं दी जानी चाहिए। औषधियों के विवेकपूर्ण इस्तेमाल के तहत ये सभी सरोकार शामिल हैं।

एक और गंभीर जन स्वास्थ्य का मुद्दा जो सामने आया है वह है सूक्ष्म जीवाणुओं में ऐन्टी बायोटिक औषधियों की प्रतिरोधक शक्ति पैदा होना जिसके पीछे अनेक कारण हैं। सही औषधियों तक पहुंच की कमी, ख़र्च करने की

अक्षमता, ऐन्टी बायोटिक दवाइयों का बे-सोचे-समझे इस्तेमाल, इलाज की अवधि पूरी होने से पहले दवाइयां लेना बंद कर देना, मांस के रूप में उपभोग किए जाने वाले पशुओं में ऐन्टी बायोटिक का प्रयोग जो न सिर्फ़ इलाज के लिए किया जाता है बल्कि उनकी शीघ्र बढ़त के लिए होता है।

तपेदिक के मानक चिकित्सा दिशानिर्देश, राष्ट्रीय स्वास्थ्य कार्यक्रम में आज भी मौजूद हैं लेकिन ऐन्टी बायोटिक प्रतिरोधकता के अध्ययन में पाया गया कि 90% से अधिक आदेशों का पालन नहीं किया जाता और उसके परिणाम अत्यन्त गंभीर हैं। यह बहुत अधिक चिन्ता का विषय है।

जहां तक तपेदिक और एच.आइ.वी. का संबंध है, घर में उसकी देखरेख पर बीमारी से जुड़े लांछन, भेदभाव तथा जेंडर पूर्वाग्रह का प्रभाव पड़ता है जिसके बारे में स्वास्थ्य देखरेख सुविधाओं को काम करना चाहिए।

एक व्यापक स्वास्थ्य नीति से मेल खाती हुई विवेकपूर्ण औषधि नीति की आवश्यकता है। निजी व्यावसायिक, औद्योगिक चिकित्सा क्षेत्र को नियमित करने की सभी कोशिशें अधिक सफल नहीं हुई हैं। *चिकित्सा संस्था क़ानून, 2010* अब तक लागू नहीं हुआ है तथा निहित स्वार्थों द्वारा उसे रोकने की कड़ी कोशिश की जा रही है। यह क़ानून, स्वास्थ्य संस्थाओं, प्रसव गृहों, अनुर्वरता केंद्रों, हृदय चिकित्सालयों आदि को श्रेणीबद्ध करने और उनके लिए नियम और मानक बनाने की कोशिश है। चिकित्सा संस्थाओं के नियमन की भी अत्यधिक आवश्यकता है, विशेष रूप से बड़े व्यावसायिक अस्पताओं के लिए ताकि

इलाज के नाम पर हो रहा शोषण रोका जा सके तथा सस्ती गुणवत्तापूर्ण स्वास्थ्य सेवा उपलब्ध कराई जा सके। यह उतना ही महत्वपूर्ण है जितना एक चरण संकट केंद्र (वन स्टेप क्राइसिस सेंटर) की स्थापना जहां औरतों को डॉक्टरी, क़ानूनी, मनौवैज्ञानिक तथा संवेदनशील जांच से लेकर आपात गर्भ निरोधक जैसी सहयोगी सेवाएं एक ही स्थान पर मिल सकें।

औषधियों तक पहुंच का स्वास्थ्य तथा व्यवसायिक के अलावा एक जेंडर आयाम भी है। पिछली राष्ट्रीय औषध नीति 1994 में बनी थी उसके बाद से काई नई नीति नहीं बनी है। *राष्ट्रीय औषध मूल्य नीति 2011* ने औषधियों के कीमत निर्धारण का आधार,लागत आधारित मूल्य (सीबीपी) से बदलकर बाज़ार आधारित मूल्य (एमबीपी) कर दिया है जिसे जन स्वास्थ्य व जनहित के लिए काम करने वाली संस्थाओं ने चुनौती दी है। औषध बाज़ार अत्यन्त विकृत बाज़ार है जहां डॉक्टर नुस्ख़ा लिखते हैं और रोगी खरीदते हैं जबकि अन्य वस्तुओं के लिए ख़रीदार ख़ुद वस्तु का चुनाव करते हैं। यदि दवाई लिखने का आधार उत्तम चिकिस्ता व्यवहार के सिद्धांतों के अनुरूप विवेकपूर्ण और नीतिसंगत हो तो कोई समस्या नहीं है लेकिन दुर्भाग्य से ऐसा है नहीं।

गंभीर समस्याएं तब पैदा होती है जब दवाइयां बनाने वाली कम्पनियों और नुस्ख़ा लिखने वाले डॉक्टरों के बीच गठजोड़ के चलते मंहगी दवाइयां लिखी जाती हैं जबकि उतने ही प्रभावी सस्ते विकल्प मौजूद हैं। यह समझना आवश्यक है कि इलाज का 70% ख़र्च दवाइयां के कारण है। मंहगी दवाई का मतलब है कर्ज़ का बोझ अथवा दवा न मिलने से उचित इलाज़ न होना। इन हालात में जेंडर पूर्वाग्रहों के चलते महिलाएं सर्वाधिक कष्ट उठाती हैं।

भूमंडलीय और राष्ट्रीय स्तर पर औषध नीतियों व नियमन पर बड़ी व ताक़तवर औषध कम्पनियों का असर बढ़ रहा है। वे डॉक्टरों के सम्मेलनों, शिक्षावृत्तियों और शैक्षणिक दौरों का ख़र्च उठाती हैं। चक्रद्वार नीतियां, हितों का टकराव, सार्वजनिक-निजी साझेदारी तथा उद्योगों की सामाजिक ज़िम्मेदारी, 'उपभोक्ताओं', 'रोगियों' और 'महिलाओं' के नाम पर उद्योगों और संस्थाओं को मोहरा

बना कर अपने एजेन्डे को आगे बढ़ाना भी रणनीति का एक हिस्सा है। घटती लोकतांत्रिक जगहों के चलते स्वास्थ्य, स्वास्थ्य देखरेख तथा अत्यावश्यक औषध के अधिकार के लिए संघर्ष करना और कठिन होता जा रहा है।

यह अत्यावश्यक है कि पश्चिमी देशों की विशेष रूप से अमरीका की बड़ी औषध कम्पनियों और उनकी सरकारों द्वारा अपनी कम्पनियों की सहूलियत के लिए भारत के *पेटेन्ट क़ानून 2005* को बदलने के लिए पड़ रहे दबाव को चुनौती देने वाली आवाज़ों को मज़बूत करें।

अमरीका द्वारा अपने आंतरिक क़ानून, *यूएस ट्रेड ओमनीबस ऐक्ट* के तहत भारत का नाम अपनी निगरानी सूची में प्राथमिकता पर रख कर तथा जिन देशों के पेटेन्ट क़ानून उनकी बड़ी कम्पनियों व उनके व्यापार के अनुकूल नहीं हैं उन्हें व्यापार पर रोक लगाने का डर दिखा कर धमकाया जाता है।

आज जब अमरीका तथा अन्य विकसित देश व भारत बहुपक्षीय *विश्व व्यापार संगठनों* के सदस्य हैं तब भारत व उसके जैसे विकासशील देशों पर एकपक्षीय और द्विपक्षीय व्यापार समझौते थोप कर भारत की बौद्धिक सम्पत्ति अधिकार प्रणाली को बदलने का दबाव डालना अत्यन्त अनुचित, अनैतिक और अन्यायपूर्ण है जबकि उसे पहले ही बदल कर 'ट्रिप्स' (व्यापार संबंधी बौद्धिक अधिकार) अनुकूल बनाया जा चुका है। बौद्धिक सम्पत्ति अधिकार (आईपीआर) का संबंध स्वामित्व शुल्क, एकाधिकार नियंत्रण तथा 'ट्रिप्स' के तहत उपलब्ध लचीलेपन का फ़ायदा न उठाने देने से है जिसके अन्तर्गत भारत तथा अन्य विकासशील देशों में सस्ती, अच्छी जेनेरिक दवाइयां बनाई जा सकती हैं।

इसी धौंस के चलते 39 बड़े औषध संघों ने प्रजाति पार्थक्य समाप्ति के बाद की दक्षिण अफ्रीका की नई सरकार के ख़िलाफ़ मुकदमा दायर किया जिसने 'ट्रिप्स' के लचीलेपन का लाभ लेते हुए अपने नागरिकों के लिए सस्ती अधोविषाणु विरोधी दवाइयां बनाने की कोशिश की। हालांकि सारे विश्व में एचआईवी/एड्स स्वास्थ्य ऐक्टिविस्टों के विरोध के कारण औषध संघों का अपना मुक़दमा वापस लेने को मजबूर होना पड़ा, जिनका दावा था कि उनके बौद्धिक सम्पत्ति अधिकार का हनन हुआ है। जेनेरिक रूप में उपलब्ध अधोविषाणु विरोधी दवाई के आते ही बड़ी कम्पनियों की उसी दवाई की कीमतें दस हज़ार डॉलर से गिरकर दो सौ पचास डॉलर पर आ गईं। बौद्धिक सम्पत्ति अधिकार का एक छत्र राज, जन स्वास्थ्य और जनहित के ख़िलाफ़ है।

ट्रिप्स तथा जनस्वास्थ्य संबंधी दोहरा घोषणा पत्र 2001, बौद्धिक सम्पत्ति अधिकार का अन्तर्राष्ट्रीय आयोग, इनोवेशन एण्ड हैल्थ 2006, सभी ने जन स्वास्थ्य की सुरक्षा का रास्ता अपनाया है। दुर्भाग्य से कम्पनी संघ भी 'ट्रिप्स' की मांग करते हैं परंतु साथ ही उनका अपना एजेन्डा भी शामिल किया जाता है।

भारत के पुराने *पेटेन्ट क़ानून 1971* (जिसमें प्रक्रिया का पेटेन्ट था उत्पाद का नहीं) के चलते तथा जिसमें पेटेन्ट सुरक्षा भी सिर्फ़ 5-7 वर्ष की थी आज की तरह 20 वर्ष की नहीं थी, भारत में जेनेरिक औषधि उद्योग खूब फला-फूला और 'विश्व का दवाखाना' कहलाने लगा क्योंकि वह अपने देश में व अन्य देशों में सस्ती, अच्छी अत्यावश्यक औषधियां मुहैया करा रहा था। बौद्धिक सम्पत्ति अधिकार के मुद्दे का अनेक क्षेत्रों के लिए बहुत गंभीर निहित अर्थ हो सकता है जैसे औषधियां, रोगों के टीके, रोग निदान, चिकित्सा साधन, पारम्परिक ज्ञान,

पारम्परिक औषधियां,कृषि क्षेत्र में बीज तथा और बहुत कुछ इससे प्रभावित हो सकते हैं।

बड़ी कम्पनियों का रचा हुआ, *निवेशक सरकार विवाद निपटारा (आई.सी.डी.एस.)* को व्यापार समझौतों का हिस्सा बनाने तथा बौद्धिक सम्पत्ति को निवेश के रूप में शामिल करने का एक बड़ा ख़तरा मंडरा रहा है, जिसका विकासशील देशों और उनके लोगों विशेषतः बहुसंख्यक ग़रीबों व औरतों के लिए गंभीर अर्थ हो सकता है अतः इसे चुनौती देकर अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए। आज जब जनस्वास्थ्य, कृषि संबंधी तथा जलवायु संकट बढ़ते जा रहे हैं, औरतों के स्वास्थ्य के मुद्दे को व्यापक नज़रिए से देखना और काम करना होगा जिसके अन्तर्गत स्वास्थ्य नीतियों, औषध नीतियों तथा आर्थिक व्यापार नीतियों में जेंडर आयाम शामिल करना होगा। औरतों के स्वास्थ्य सरोकार केवल गर्भाशय व नलिकाओं तक सीमित न रहें जिसके चलते उनके स्वास्थ्य के नाम पर सिर्फ़ वन्ध्यीकरण कैम्प लगाए जाते हैं जिनमें न तो मानक, आचार व दिशानिर्देशों का पालन होता है ना ही उन्हें गरिमा व आवश्यक देखरेख मिलती है।

स्वास्थ्य देखरेख में जेंडर न्याय तथा सर्वव्यापक देखरेख तक समानतापूर्ण पहुंच के लिए वचनबद्ध स्त्रियों के तौर पर हम वर्तमान परिस्थितियों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। हमें बेहतरी के लिए बदलाव चाहिए और उसके लिए कार्यरत रहेंगी।

मीरा शिवा *डॉक्टर, जन स्वास्थ्य आंदोलन की संस्थापक व हेल्थ एक्शन इंटरनेशनल एशिया पसिफ़िक की अध्यक्षा हैं।*

अनुवादः वीणा शिवपुरी

खिड़कियां

रजनी तिलक

खिड़कियों से क्यों
झांकती हैं औरतें?
वायदों पर क्यों
जान लुटाती हैं औरतें?
खिड़की पर पड़े भी क्यूं
ढंकी हैं औरतें?
दीवार पर खिड़की भी क्यूं
अटी हैं औरतें?

तेरा खिड़की या दिल
अमुढ़ बहा लाएगी अंदर
दीवार पे टंगी
दुनिया निहार आएंगी
कुछ है ज़ज्बा अभी बाकी
चांद, सूरज, धरती, आसमान
अबीर, मुस्कान, दर्द, संघर्ष
खिड़की में दुनिया खंगाल लाएंगी।

हैरान हूं

रजनी तिलक

कौन हैं वो?
कॉफ़ी होम में बैठ खूब बतियाते हैं
खेत खलियान, पर्यावरण पर
खूब लिखते हैं
खेतों में पैदा नहीं हुए
परन्तु उनकी गंध सूंघते हैं
दलित उत्पीड़न सहा नहीं
महसूस करते हैं
हो भाव विभोर
मार्मिक कविताएं लिखते हैं।

मैं हैरान हूं-
उन्होंने हमारे दर्द
गीतों में पिरोये कैसे?

रजनी तिलक *लेखिका, कवयित्री और स्वतंत्र पत्रकार हैं।*

लेख

बुजुर्ग महिलाओं की स्वास्थ्य ज़रूरतें व अधिकार

पल्लवी पटेल

भारत की बुजुर्ग जनसंख्या में ग़रीब औरतों की बहुतायत है जो आर्थिक रूप से अपने बच्चों पर निर्भर हैं और जिन्हें परिवार में कोई उचित दर्जा या सत्ता मुहैया नहीं होती। अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक कारणों की वजह से बुजुर्ग औरतें अभावों में जीती हैं। इन औरतों की समस्याओं को समाज में व्याप्त गहन सांस्कृतिक व सामाजिक पूर्वाग्रह, जीवन भर झेला जाने वाला लैंगिक भेदभाव तथा अन्य वर्ग, जाति, विकलांगता, अशिक्षा,बेरोज़गारी व वैवाहिक दर्जे से उपजने वाले भेदभाव और अधिक बढ़ाते हैं। पितृसत्तात्मक पदानुक्रम तथा सम्पत्ति अधिकारों तक पहुंच भी इस भेदभाव में इज़ाफ़ा करती है। उम्रदराज़ पुरुषों की तुलना में लम्बे दौर तक घरेलू कामकाज का बोझ उठाने वाली इन महिलाओं के पास आराम और मनोरंजन के लिए कोई समय उपलब्ध नहीं होता।

समय-समय पर बुजुर्गों के मानव अधिकारों का हनन होता रहता है। अधिकांश बुजर्ग महिलाओं को अपने हक़ों और सत्ता के बारे में कोई जानकारी नहीं होती। उन्हें भोजन व पोषण, साफ़ पानी, सफ़ाई, आश्रय व स्वास्थ्य संबंधी देखभाल की कमी होती है जो उनके शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक स्वास्थ्य और खुशहाली को प्रभावित करती है।

कनकूबाई चित्तौड़ के सरथाल गांव में एक कच्ची झोपड़ी में रहती हैं। तीस साल पहले उसके पति की मृत्यु हो गई थी। दस वर्ष पहले उसकी इकलौती बेटी भी गुज़र गई। तब से कनकूबाई अकेली रहती है। उसके सासरे की तरफ के रिश्तेदारों ने उसके पति की खेती वाली ज़मीन पर कब्ज़ा जमा लिया है।

रत्नाबाई चित्तौड़ के अरण्य माली गांव में रहती है। 16 साल पहले उसका पति उसे छोड़कर चला गया था। रत्नाबाई के सभी बच्चों की शादी हो गई है। पति के जाने के बाद रत्नाबाई को भूखा मरने की नौबत आ गई। उसने दोबारा नए सिरे से अपना जीवन शुरू किया। वह और उसका बड़ा बेटा मज़दूरी करने लगे। दोनों ने मिलकर एक झोपड़ी बनाई। वह आज भी मज़दूरी करके अपना गुज़ारा करती है। वह अपने बुढ़ापे के लिए कुछ बचत करना चाहती है।

बुजुर्ग महिलाओं को प्रभावित करने वाले दो प्रमुख मुद्दे हैं— अकेलापन और आर्थिक असुरक्षा। ग्रामीण इलाकों में युवा शहरों की ओर पलायन कर रहे हैं और बुजुर्गों खासकर औरतों के साथ उनका कोई खास लेना देना नहीं होता। औरतें तमाम उम्र अपने परिवार की देखभाल में गुज़ार देती हैं— ऐसा काम जो अक्सर अवैतनिक और अनदेखा रहता है। मज़दूरी के काम के पैसों से भी वह कोई बचत नहीं कर पाती। यह पैसा घर के रोज़मर्रा के खर्चों के काम आ जाता हैं अपने कल के लिए बचत करना उसका ख्वाब ही रह जाता है।

भावनात्मक असुरक्षा

हेराबाई चित्तौड़ के कानपुरा गांव की गुर्जर महिला है जो अपने मां-बाप के साथ रहती है। हेराबाई की शादी 12 वर्ष की उम्र में हुई थी। उसका पति उसे ताले में बंद रखता था और डंडे और कुल्हाड़ी से उसकी पिटाई करता था। हारकर हेराबाई अपने मां-बाप के पास लौट आई। उसका पिता उसका 'नाता' किसी दूसरे आदमी के साथ करना चाहता था पर उसने मना कर दिया। उसे अपने मायके में रहते हुए करीब 25 साल हो गए हैं। वह सोचती है कि उसके भाई के बेटे बड़े होकर उसे घर से निकाल तो नहीं देंगे।

अपने काम के दौरान हमने पाया है कि बुजुर्ग औरतों के सामने सबसे बड़ी समस्या कम पोषण की है। यह पूरे जीवन भर कम पोषक भोजन खाने की वजह से पैदा हुई समस्या है। पितृसत्तात्मक समाज में औरतें सामाजिक पूर्वाग्रहों और परिवार की बेरुखी का सामना करती हैं। देखा गया है कि अक्सर औरतों की दांतों संबंधी तकलीफ़ें अनदेखी रहती हैं जिससे उनकी खाने की क्षमता घटती रहती है और उन्हें कम पोषण मिलता है। *चेतना* द्वारा किए शोध में कुछ अन्य समस्याएं जो सामने आई हैं उनमें सांस व हाज़मा संबंधी तकलीफ़ें, हड्डियों व जोड़ों का दर्द, कम दिखाई देना, खाल से जुड़े रोग जैसे जोड़ों का दर्द, गठिया, मोतियाबिन्द, दमा, सांस फूलना, मधुमेह प्रमुख है। अवसाद तथा उच्च रक्तचाप व तनाव भी आम समस्या है।

एक पितृसत्तात्मक समाज में पले-बढ़े होने के कारण औरतें अपनी तकलीफ़ें छुपाना-दबाना और उनसे जुड़े लक्षणों को नज़रअंदाज़ करना सीख लेती हैं। आर्थिक रूप से परिवार की आमदनी में योगदान न देने के कारण घर वाले भी उनकी स्वास्थ्य समस्याओं को गंभीरता से नहीं लेते।

कुछ सालों पहले बुजुर्ग महिलाओं से जुड़े मुद्दों पर कोई संवाद या चर्चा नहीं थी। बुजुर्गों की बढ़ती जनसंख्या के साथ-साथ अगर उनसे सबद्ध स्वास्थ्य सरोकारों को संबोधित न किया जाय तो यह एक जटिल सामाजिक स्वास्थ्य व विकास चुनौती बन सकती है।

इस सरोकार को ध्यान में रखकर भारत सरकार के *सामाजिक न्याय व सशक्तता मंत्रालय* ने जनवरी 1999 में *बुजुर्ग व्यक्तियों के लिए राष्ट्रीय नीति* अपनाई थी। फिलहाल एक नई नीति जिसे "वरिष्ठ नागरिकों के लिए राष्ट्रीय नीति 2011" के नाम से जाना जाता है लागू की गई है। इस नीति में बुजुर्गों विशेषतः उम्रदराज महिलाओं की विशेष स्वास्थ्य ज़रूरतों और ग्रामीण बुजुर्गों में बढ़ती मुफ़लिसी को स्वीकारा गया है। आंकड़ों के अनुसार 51 करोड़ बुजुर्ग ग़रीबी रेखा के नीचे गुज़र करते हैं।

इस नीति में स्वास्थ्य पर एक खास खण्ड है जिसका लक्ष्य बेहतर, सस्ती स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध कराना है जिन्हें ग़रीब बुजुर्गों के लिए कम दामों पर मुहैया कराया जाएगा। बाकी तबकों और आयु-वर्ग समूहों के लिए भी कीमतों पर छूट दी जाएगी। इनमें से कुछ सुविधाओं पर तो सरकार ने बड़े-बड़े वादे भी किए हैं। इनमें से कुछ निम्न हैं — सार्वजनिक स्वास्थ्य का बुनियादी ढांचा प्राथमिक स्वास्थ्य व्यवस्थाओं के माध्यम से होगा; स्वास्थ्य सुविधाओं में निहित लैंगिक रवैयों को स्वीकारते हुए बुजुर्ग महिलाओं के लिए नियमित स्वास्थ्य चेक-अप की व्यवस्था; देश में गैर-संचारी रोगों की बढ़ोतरी का मद्देनज़र रखते हुए साल में दो बार प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र की नर्स या आशा कार्यकर्ता गांव व शहर के 80 वर्ष से अधिक उम्र वाले बुजुर्गों की स्वास्थ्य जांच करेगी; राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना का प्रचार किया जाएगा और सभी वरिष्ठ नागरिकों को इसमें शामिल किया जाएगा; यह स्वास्थ्य बीमा संरक्षण सरकार पोषित स्कीमों के माध्यम से किया जाएगा।

इन सबके बावजूद हमारे सामने प्रमुख चुनौती है कि नियोजित नीतियों और कार्यक्रमों में समुदाय के सक्रिय योगदान के साथ निगरानी और मूल्यांकन के लिए पारदर्शी प्रक्रियाएं निहित हों। इन नीतियों को बुजुर्ग महिलाओं के लिए वास्तविकता में तब्दील करना भी हमारे सामने एक कठिन चुनौती है क्योंकि हमारे सामने समाज की गहरी पैठी सच्चाइयां जैसे आर्थिक निर्भरता, फ़ैसले लेने की क्षमता में की और आवाजाही की कमी मुंह बाए खड़ी है।

पल्लवी पटेल *चेतना अहमदाबाद की निदेशिका हैं।*

लेख

घरेलू हिंसा व स्वास्थ्य हस्तक्षेप

विभूति पटेल

"महिलाओं के साथ हिंसा मानव अधिकार हनन का सबसे शर्मनाक रूप है। यह सबसे ज़्यादा व्यापक भी है। हिंसा धन, संस्कृति और भूगोल की कोई सीमाएं नहीं देखती और जब तक यह जारी रहेगी तब तक हम समानता, विकास और अमन के पथ पर प्रगति नहीं कर सकते!"

कोफ़ी आनन-संयुक्त राष्ट्र महासचिव

राष्ट्रीय पारिवारिक स्वास्थ्य सर्वेक्षण (III-2006-07) के अनुसार 55% भारतीय महिलाएं पति के हाथों मारपीट सहती हैं। नारीवादियों की मांग है कि घरेलू हिंसा को एक यातना की तरह देखा जाना चाहिए। हत्या और लापता हो जाने के मामलों को मानवाधिकार उल्लंघन का गहन रूप मानते हुए यातना की श्रेणी में रखा जाता है तो फिर लिंग के आधार पर फैली असमानता और बलात्कार, घरेलू मारपीट और पोर्नोग़ाफ़ी जैसे अपराधों को लैगिंक यातना मानकर उन्हें मानव अधिकार हनन करार क्यों नहीं दिया जाता?

घरेलू हिंसा को चुनौती देने लिए हमारे संविधान में कुछ बुनियादी अधिकार दर्ज हैं जो हर नागरिक को समान रूप से हासिल हैं:

अनुच्छेद-14	पुरुष व स्त्री दोनों के लिए राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक खण्ड में समान अधिकार व अवसर।
अनुच्छेद-15	लिंग, धर्म, जाति इत्यादि के आधार पर भेदभाव की मनाही।
अनुच्छेद-15 (3)	राज्य को महिलाओं के हितों के लिए सकारात्मक कार्यवाही करने का अधिकार।
अनुच्छेद-16	सार्वजनिक नियुक्तियों के मामले में समान अवसर।

घरेलू हिंसा के लक्षणों में निम्न शामिल हैं:

- मौखिक प्रताड़ना व अपमानजनक आलोचना— चीखना, गाली-गलौज़, धमकाना आदि।
- दबाव डालना— पैसा न देने की धमकी, फ़ोन काट देना, बच्चों को दूर कर देना, दोस्तों-रिश्तेदारों से झूठ बोलना, आत्महत्या की धमकी, बात न करना, फ़ैसला लेने की मनाही, ज़ोर-ज़बरदस्ती से बात मनवाना आदि।
- अपमान— दूसरों के सामने नीचा दिखाना, बात न सुनना, बिना पूछे पैसे ले लेना, घर के कामों में मदद न करना आदि।
- विश्वास तोड़ना— झूठ बोलना, जानकारी छुपाना, ईष्या, बाहर संबंध रखना, वादा ख़िलाफ़ी और धोखाधड़ी आदि।
- अकेला कर देना— फ़ोन की तार काटना, किसी से बात न करने देना, दोस्तो-रिश्तेदारों से मिलने की मनाही आदि।
- उत्पीड़न— पीछा करना, चिट्ठी-मेल चैक करना, फ़ोन की जांच करना, सबके सामने ज़लील करना आदि।
- धमकी— चाकू या अन्य हथियारों से डराना, सामान तोड़ना, चीज़ें पटकना, बच्चों को नुकसान पहुंचाने की धमकी आदि।
- यौन हिंसा— जबरन यौन संबंध बनाना या कोई भी यौनिक काम करने को बाध्य करना।
- शारीरिक हिंसा— मारपीट, बाल खींचना, धक्का देना, जलाना, गला घोंटना आदि।
- मनाही— कहना कि तुम हालात के लिए ज़िम्मेदार हो, माफ़ी मांगना, दोबारा न करने की कसम देना आदि।

चालीस वर्षों के सतत् संघर्ष के बाद सन 2005 में *घरेलू हिंसा से महिलाओं की सुरक्षा क़ानून* पास हुआ जिसके अनुसार घरेलू हिंसा कोई भी ऐसी कार्यवाही है जो—

- व्यथित व्यक्ति के स्वास्थ्य, सुरक्षा, जीवन, अंग या खुशहाली को नुकसान, चोट या खतरे में डालती है

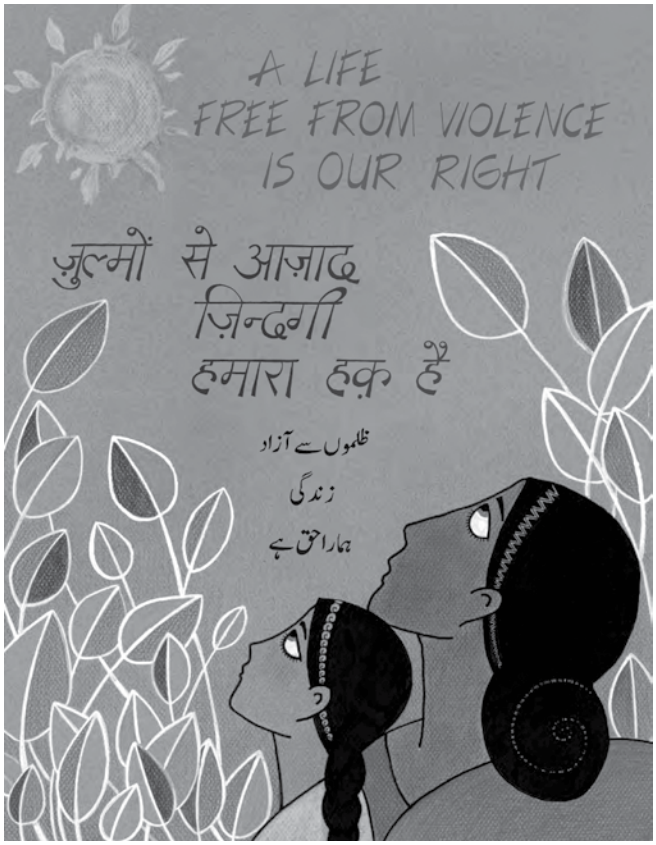

पोस्टरः जागोरी

और जिसमें शारीरिक उत्पीड़न, यौन हिंसा, मौखिक, भावनात्मक व आर्थिक प्रताड़ना शामिल हो अथवा

- व्यथित व्यक्ति को नुकसान, चोट, प्रताड़ना या खतरा पहुंचाने या उसको व उससे जुड़े किसी भी व्यक्ति को दहेज, सम्पत्ति या किसी कीमती सुरक्षा संबंधी गैर क़ानूनी मांग को मानने के लिए बाध्य करती हो, अथवा
- व्यथित व्यक्ति या उससे संबंधित किसी भी अन्य व्यक्ति को धमकाने के लिए उपयोग किया गया कोई भी व्यवहार जो खण्ड (अ) व (ब) में उल्लेखित हो या व्यथित व्यक्ति को किसी भी तरह की चोट या नुकसान या शारीरिक व मानसिक तकलीफ़ पहुंचाए।

इस क़ानून के तहत घरेलू हिंसा के सर्वाइवर को अपने वैवाहिक घर में रहने का अधिकार दिया गया है और जिसकी बहाली के लिए सुरक्षा अधिकारी की नियुक्ति सेवा प्रदाताओं की पहचान, सुरक्षा अधिकारियों व न्यायाधीशों के प्रशिक्षण तथा जागरूकता बढ़ाने का प्रावधान किया गया है।

अर्थशास्त्रियों की मांग है कि अस्पताल, आश्रयघर, पुलिस व क़ानूनी निकाय सेवा प्रदाताओं के लिए उचित धनराशि जैसे बजट आबंटन किया जाए जिससे इस क़ानून को प्रभावशाली तरीक़े से लागू किया जा सके।

घरेलू हिंसा क़ानून के अलावा 1983 में घरेलू हिंसा को *धारा 498-A* के तहत विशेष अपराध माना गया है। इस खण्ड में पति व उसके परिवार द्वारा औरत के साथ की जाने वाले दुर्व्यवहार और क्रूरता को परिभाषित किया गया है। इस क़ानून के अतंर्गत चार तरह की क्रूरता का उल्लेख किया गया है जो क़ानूनी अपराध की श्रेणी में रखी गई हैं— आत्महत्या के लिए उकसाने वाला व्यवहार; जीवन, अंग या स्वास्थ्य को नुकसान, चोट या तकलीफ़ पहुंचाने वाला व्यवहार; महिला व उसके रिश्तेदारों पर सम्पत्ति देने के लिए दवाब डालने वाला व्यवहार; सम्पत्ति या दहेज न देने के कारण महिला के साथ किया जाने वाला व्यवहार।

अदालत ने इन व्यवहारों को भी 'क्रूरता' की श्रेणी में रखा हैः खाना न देना, अभद्र यौन व्यवहार, घर के बाहर निकालना, बच्चों से न मिलने देना, शारीरिक हिंसा, ताने मारना, हतोत्साहित करना या नीचा दिखाना, घर में कैद रखना, गाली-गलौज, तलाक़ की धमकी, मानसिक यातना या बच्चों को नाजायज़ ठहराना आदि।

दिलासाः सरकारी अस्पताल में हिंसा पीड़ितों के इलाज और परामर्श के लिए केंद्र

महिलाओं के साथ होने वाली हिंसा के प्रति सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली को संवेदनशील बनाने के मक़सद को लेकर *सेहत* और *ब्रह्नमुंबई नगर पालिका* ने एक साथ मिलकर मुंबई के पश्चिमी बांद्रा इलाके के के.बी. भाभा अस्पताल में *दिलासा क्राइसिस सेंटर* की स्थापना की है। *दिलासा* का अर्थ होता है आश्वासन देना और इस केंद्र का लक्ष्य है यहां आने वाली घरेलू हिंसा पीड़ित महिलाओं को सामाजिक, मानसिक व मनोवैज्ञानिक राहत प्रदान करना।

सेहत की भूमिका यहां अगले तीन सालों तक हिंसा के सर्वाइवर्स को परामर्श और उससे संबंध सहयोगी सेवाएं प्रदान करना है। इस क्राईसिस केंद्र के मॉडल पर मुंबई के दो अन्य अस्पतालों तथा एक ज़िला अस्पताल में *दिलासा* केंद्र खोले जा रहे हैं। इन *दिलासा केंद्रों* में चिकित्सीय और परामर्श सेवाओं के अलावा हिंसा से बचाव के लिए

गतिविधियों पर भी ध्यान दिया जाएगा। इसके अतिरिक्त महिला सर्वाइवर्स के लिए समुदाय आधारित सहयोग प्रणाली, स्वास्थ्य सेवा व्यावसायिकों द्वारा झेली जाने वाली हिंसा पर शोध अध्ययन तथा सामाजिक संरचनाओं में निहित हिंसा पर भी नियमित रूप से गतिविधियां आयोजित की जाएंगी। अस्पतालों में हिंसा के पीड़ितों से संवेदनशील तरीक़ों से निपटने के लिए नर्सों के जेंडर संवेदनशील प्रशिक्षण व प्रशिक्षकों के लिए प्रशिक्षण पर भी विशेष ध्यान दिया जाएगा।

अंत में मैं यही कहना चाहूंगी कि लड़कियों, महिलाओं व बुजुर्गों को हिंसा से बचाने व औरतों के मानवाधिकार स्थापित करने के लिए सकारात्मक क़दम उठाने की आवश्यकता है। इस दिशा में कुछ प्रमुख कार्यनीतियां हैं— महिलाओं की आर्थिक क्षमताओं का विकास, लिंग संवेदनशील प्रशिक्षण व अध्ययन प्रक्रियाओं को सशक्त बनाना। *दिलासा* की तरह औरतों के लिए क्राइसिस केंद्रों में भी चिकित्सीय कर्मचारियों, पुलिस व स्वयंसेवी संगठनों की संयुक्त भागीदारी और योगदान होना चाहिए। मीडिया के सहयोग और शैक्षिक संस्थानों की मदद से जागरूकता अभियान और चेतना बढ़ाने वाले कार्यक्रम भी नियमित रूप से चलाए जाने चाहिए।

विभूति पटेल *नारीवादी अकादमिक व शिक्षिका हैं।*

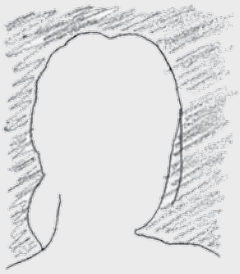

अकेली औरत का हंसना

सुधा अरोड़ा

अकेली औरत
ख़ुद से ख़ुद को छिपाती है।
होंठों के बीच क़ैद पड़ी हंसी को खींचकर
जबरन हंसती है
और हंसी बीच रास्ते ही टूट जाती है

अकेली औरत का हंसना
नहीं सुहाता लोगों को।
कितनी बेहया है यह औरत
सिर पर मर्द के साये के बिना भी
तपता नहीं सिर इसका
मुंह फाड़कर हंसती
अकेली औरत
किसी को अच्छी नहीं लगती।
जो खुलकर लुटाने आए थे हमदर्दी
वापस सहेज लेते हैं उसे
कहीं और काम आएगी यह धरोहर।

अकेली औरत
कितनी ख़ूबसूरत लगती है...
जब उसके चेहरे पर एक उजाड़ होता है
आंखें खोयी-खोयी सी कुछ ढूंढती हैं
एक वाक्य भी जो बिना हकलाए बोल नहीं पातीं
बातें करते-करते अचानक
बात का सिरा पकड़ में नहीं आता
बार-बार भूल जाती है- अभी-अभी क्या कहा था।

अकेली औरत
का चेहरा कितना भला लगता है
जब उसके चेहरे पर ऐसा शून्य पसरा होता है
कि जो आपने कहा, उस तक पहुंचा ही नहीं।
आप उसे देखें तो लगे ही नहीं
कि साबुत खड़ी है वहां!
पूरी की पूरी आपके सामने खड़ी होती है
और आधी पौनी ही दिखती है।
बाकी का हिस्सा कहां किसे ढूंढ रहा है
उसे ख़ुद भी मालूम नहीं होता।
कितनी मासूम लगती है ऐसी औरत!

हंसी तो उसके चेहरे पर थिगली सी
चिपकी लगती है
किसी ग़ैर ज़रूरी चीज़ की तरह
हाथ लगाते ही चेहरे से ऐसे झर जाती है
जैसे कभी वहां थी ही नहीं।

सुधा अरोड़ा *हिन्दी साहित्य की मशहूर लेखिका व कवयित्री हैं।*

लेख

मानसिक स्वास्थ्य और खुशहाली

किश्वर अहमद-शिराली

औरतों और लड़कियों के मनोविज्ञान का अध्ययन करते हुए कैरल गिलिगन ने एक "दीवार" (पितृसत्तात्मक परिवार और संस्कृति की) का वर्णन किया है। वह लिखती हैं, 'इस 'दीवार' से जूझते हुए हम सब अपना कुछ हिस्सा, कुछ आवाज़ सुरक्षा और स्वीकृति की ख़ातिर त्याग देते हैं। पर अफ़सोस तो यह है कि ये दीवार ही हमारी सच्चाई बनकर रह जाती है।'

भारतीय महिलाओं की वास्तविकता पर एक मोटा, गहरा पर्दा पड़ा हुआ है। उनके चेहरे, आवाज़, ताक़त, रोग, तनाव, रोष आदि अदृश्य और अनसुने ही रह जाते हैं। सामने अगर कुछ रह जाता है या दिखाई पड़ता है तो वह है उनकी शर्म, उनका शरीर, उनकी ग्लानि और उनका पागलपन।

मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों, चिकित्सीय प्रणाली और आम धारणाओं में लोगों को पुरुष-स्त्री, अमीर-ग़रीब, ब्राह्मण-शूद्र, ग्रामीण-शहरी जैसे सख़्त खांचों में बांट दिया जाता है। सत्ता और सत्ताहीन, सामान्य और असामान्य की बात ही नहीं की जाती। पर सच्चाई तो यही है कि हर वर्ग जाति, समुदाय में औरत सबसे निचली पायदान पर खड़ी है। एक व्यक्ति के रूप में उसकी पहचान मूक सेवक और एक अदृश्य व्यक्ति के समान ही है। उसके अंतहीन काम को मान, नाम और पहचान नहीं मिलती। दूसरों की भूख, ख़ुशी, दर्द उसके अपने हैं। पर उसकी अपनी ख़ुशी, ग़म और भूख खुद उससे भी छुपी रहती है। उसके वजूद, उसकी सच्चाई और पहचान उसके परिवार में मौजूद पुरुषों से ही है।

हर चिकित्सीय प्रणाली में, फिर चाहे वह आयुर्वेद हो या पश्चिमी ऐलोपैथी— दोनों ही में औरत की बीमारी उसके व्यक्तिगत रोगविज्ञान में केंद्रित है। इसके साथ ही भारतीय पारम्परिक विचारधारा में उसकी मानसिक बीमारी के लक्षण उसके पूर्व जन्म के बुरे कर्मों या उसके सामाजिक, धार्मिक, वैवाहिक कर्तव्यों की अवहेलना में निहित हैं। अक्सर औरतें अपने कर्मों और दायित्वों को नज़रअंदाज़ करने की ग्लानि को कम करने और हालात सुधारने के लिए धार्मिक अनुष्ठान, व्रत, उपवास, पूजा, जाप, दान आदि के रास्ते अपनाती हैं जो कुछ हद तक उसके अपराध बोध को कम करते हैं।

यह भी देखा गया है कि औरतें जाति और समुदाय से परे ग्लानि और शर्म की भावना को अपने शरीर से जोड़कर देखने की आदी होती हैं। भारतीय समाज में घरेलू औरत के शरीर को पुरुषों के लिए गढ़ा-रचा जाता है जिसके एवज़ में पुरुष उस शरीर की सुरक्षा का दायित्व उठाता है। इस स्त्री-शरीर की प्रमुख भूमिका प्रजनन और मातृत्व के लिए होती है। दूसरी ओर पुरुषों की नज़र को लुभाने और चुनौती देने वाली 'बाज़ारू' औरत का शरीर होता है। सड़क पर खड़ी होने वाली वेश्या एक उपभोग की वस्तु मात्र है जिसकी हिफ़ाज़त पुरुष की ज़िम्मेदारी नहीं है।

पितृसत्तात्मक समाज में व्यापक क़ानून है- स्त्री शरीर का इस्तेमाल और उसकी यौनिकता को दबाकर नियंत्रित करना। स्त्री यौनिकता का यह डर, उसकी सत्ता और उस पर काबू पाना ही पितृसत्तात्मक समाज का केन्द्र है जिसके लिए न सिर्फ़ शरीर बल्कि औरत के मन पर नियंत्रण करना भी आवश्यक बन जाता है।

किसी भी भारतीय परिवार को देखें तो औरत की ज़िम्मेदारी होती है कि वह परिवार और उसके सदस्यों की देखभाल और खुशहाली का ध्यान रखे। इस सुरक्षित-स्वर्ग रूपी ईकाई में अगर कोई बीमारी या कमतरी आती है तो यह माना जाता है कि औरत ने अपने दायित्वों को ठीक से पूरा नहीं किया। पर जैसे-जैसे समाज में परिवर्तन आए पारम्परिक परिवार की यह छवि तड़कने लगी। औरत ने श्रम बाज़ार में क़दम रखा, उसे अपने अधिकारों और आज़ादी का आभास हुआ। पर परिवारों के लिए इस नई औरत को स्वीकारना आसान नहीं था।

मानसिक स्वास्थ्य के दायरे में देखें तो सत्ता अनेक रूपों में खुद को ढाल लेती है- प्यार, सुरक्षा, बहुत अधिक देखभाल आदि। औरतें अपनी सत्ताहीनता से उबरने के लिए अपनी गरिमा, आज़ादी, शारीरिक ओर मानसिक खुशहाली तक दांव पर लगा देती हैं। जुड़ाव पाने की ज़रूरत उनसे क्या कुछ नहीं करवा देती। हमारे समाज में औरतों की पहचान, यौनिकता और समूचा जीवन पुरुष और उनके मापदंडों द्वारा परिभाषित होता है। मानसिक स्वास्थ्य और उसके इलाज में भी औरत को 'मरीज़ा' और पुरुष को 'विशेषज्ञ' के तौर पर ही देखा जाता है। यहां पर भी वास्तविकता पितृसत्तात्मक नज़रों से ही देखी जाती है।

उत्तरी भारत में किए गए शोध अध्ययन के दौरान मैंने पाया कि औरतों के लिए उनकी मानसिक खुशहाली उनकी सम्पूर्णता से जुड़ी है। औरत के लिए उसकी भावनात्मक बीमारियों का सीधा संबंध उसके मानसिक, सामाजिक, राजनैतिक और मनोवैज्ञानिक अनुभवों से है।

भारत में औरतों को होने वाले दो प्रमुख भावनात्मक रोग हैं— उन्माद (हिस्टीरिया) और अवमनापन (व आत्महत्या)। उन्माद का सीधा संबंध औरतों से है। औरतों को मानसिक रोगी तभी समझा जाता है जब वे अपनी सामाजिक भूमिका का निबाह नहीं करती। औरतें अजीबो-ग़रीब दर्द, कमज़ोरी, सांस फूलने, हाथ पैर सुन्न पड़ने, भूल जाने जैसे लक्षणों का भी ज़िक्र करती हैं। कुछ औरतें 'देवी' आने का भी दावा करती हैं।

अवमनापन या डिप्रेशन भी एक दूसरा आम मानसिक भावनात्मक रोग है जो औरतों में पाया जाता है। आंकड़ों के अनुसार औरतें पुरुषों की तुलना में तीन गुना अधिक उदासीनता का सामना करती हैं और पुरुषों से दो गुना अधिक बार आत्महत्या करने का प्रयास करती हैं। उदासीनता दरअसल औरत की अपने प्रति नफ़रत, गुस्से और ग्लानि की अभिव्यक्ति है। हम खुद को कुसूरवार मानकर अपराधबोध से घिर जाते हैं जिसके नतीजतन हमें उदासीनता घेर लेती है।

औरतों ने खुद को आरोग्य रखने के अनेक नायाब तरीक़े निकाले हैं। औरतों के पास एक गुप्त मंत्र होता है, एक औरताना शक्ति होती है, एक दैविक साधना की तरह जो उन्हें कठिन से कठिन परिस्थिति से उबरने का

हौसला देती है। इस सामाजिक-धार्मिक रहस्यमयी शक्ति से एकाकार होकर औरतें उन्मुक्त और आज़ाद महसूस कर पाती हैं। खुद को देवी की शक्ति में गिरफ़्तार करके औरतें अपने रोग (हिस्टीरिया) के साथ-साथ अपने वजूद पर लदे निष्क्रियता के सामाजिक चोले को भी उतार फैंकती हैं। देवी, देवता, पीर, बाबा, फकीर आदि की आवाज़ और व्यवहार बनाकर वे अपनी बेचारगी और सत्ताहीनता को एक डरावनी शक्ति में तब्दील कर लेती हैं। ऐसा करते समय वे पितृसत्तात्मक समाज में अपने कमतर और निम्न दर्जे को चुनौती देती हैं।

मेरा मानना है कि 'आरोग्य' होने की ये प्रक्रिया दरअसल सामाजिक बंधनों को तोड़ने का एक तरीक़ा है। किसी 'दूसरे' की पहचान लेकर किसी उस देवी, माता या पीर बाबा का व्यवहार अपनाकर, जिसके साथ उसका खास जुड़ाव है, वह अपने अंदर के एक निजी और आत्मीय संबंध को सबके समाने उजागर कर देती है। एक सामाजिक सांस्कृतिक मान्यता को आधार बनाकर ये औरतें अपने ऊपर नियंत्रण करने वालों को अपनी शर्तों पर अपने समाने घुटने टेकने को मजबूर कर देती हैं। अपने रोष, गुस्से, तकलीफ़ों को इस 'मर्दाने' तरीक़े से अभिव्यक्त करके वे एक राहत, एक आज़ादी महसूस कर लेती हैं। और विडम्बना यही है कि अपने रोग, अपनी बीमारी के ज़रिए वे खुद को खुशहाल और स्वस्थ रखने के तरीक़े खोज लेती हैं।

कुछ इसी तरह औरतें सतसंग, कीर्तन, रतजगे जैसे धार्मिक सामूहिक कार्यक्रमों में खुद को पूरी तरह खुला

छोड़ देती हैं। नाचना, गाना या फिर 'देवी' बन जाना और अपनी इच्छानुसार व्यवहार करना ऐसे जमघटों में खासतौर पर देखा जा सकता है। इन सुरक्षित जगहों और स्वतंत्र माहौल में उनकी आरोग्य महसूस करने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है।

अंत में यही कहना चाहूंगी कि मेरे अनुसार जब हम किसी मानसिक बीमारी का निदान करने के बारे में सोचते हैं तो सबसे पहले हमें विशेषज्ञ या डॉक्टर और मरीज़ वाली मानसिकता को पीछे छोड़ना होगा। हमें मानना होगा कि कई परिस्थितियां ऐसी हो सकती है जिनका कोई जवाब हमारे पास नहीं होगा। ऐसे सवालों और हालातों से हमें मिलकर जूझना होगा। हमारे पास आने वाली औरतों के अनुभवों, उनके अहसासों से सीखना होगा। और इस लिहाज़ से नारीवाद अपने आप में ही औरतों के रोग का निदान हो सकता है।

जब औरतों को अपने अनुभव, अपना गुस्सा, आंसू, अवमनना और यहां तक कि अपना पागलपन बांटने की जगह मिलती है तब हम मिलकर एक दूसरे की देखभाल और साथ दे सकते हैं। ऐसी जगह में वर्ग, जाति, शिक्षा,धर्म, शहरी अपना सर उठा सकते हैं पर सिर्फ़ हमारी सच्चाइयों और हमारे सामाजीकरण के संदर्भ में। यहां हम सब एक साथ मिलकर जुड़ सकते हैं और जुड़ाव बना सकते हैं। हम औरतें अपने बिखरे हुए जीवन को आरोग्य और खुशहाल बनाने के एक से ज़्यादा रास्ते तलाश कर सकती हैं।

किश्वर अहमद-शिराली
नारीवादी मनोचिकित्सक व शिक्षिका हैं।

कम से कम एक दरवाज़ा

सुधा अरोड़ा

चाहे नक्काशीदार एंटीक दरवाज़ा हो
या लकड़ी के चिरे हुए फट्ठों से बना
उस पर खूबसूरत हैंडल जड़ा हो
या लोहे का कुंडा!

वह दरवाज़ा ऐसे घर का हो
जहां मां बाप की रज़ामंदी के बगैर
अपने प्रेमी के साथ भागी हुई बेटी से
माता पिता कह सकें –
"जानते है, तुमने गलत फ़ैसला लिया
फिर भी हमारी यही दुआ है
खुश रहो उसके साथ
जिसे तुमने वरा है!
यह मत भूलना
कभी यह फ़ैसला भारी पड़े
और पांव लौटने को मुड़ें

तो यह दरवाज़ा खुला है तुम्हारे लिए!"
बेटियों को जब सारी दिशाएं
बंद नज़र आएं
कम से कम एक दरवाज़ा
हमेशा खुला रहे उनके लिए।

लेख

विकलांगता और यौनिकता

अनीता घई

जेंडर विकलांगता तक पहुंचता है; विकलागंता वर्ग के इर्द गिर्द लिपटी होती है; वर्ग शोषण के ख़िलाफ़ ज़ोर लगाता है; शोषण यौनिकता में बसा-फंसा है; यौनिकता नस्ल के साथ गुंथी है... और यह सब कुछ एक मानव शरीर के ऊपर लदा हुआ है। —ऐली क्लैर

अपने लिए मेरे कुछ सवाल: ऐसा ज़रूरी क्यों है कि एक विकलांग व्यक्ति किसी दूसरे अपंग व्यक्ति से ही या फिर अपने ही तरह विकलांगता वाले इंसान से ही प्यार कर सकता है? ऐसा क्यों है कि 'नार्मल' लड़के विकलांग लड़कियों को यौन साथी के रूप तो स्वीकार करते हैं परन्तु शादी की बात आते ही या तो साफ़ इंकार कर देते हैं, या उस बात को पूरी तरह नज़रअंदाज कर देते हैं? ये बातें मुझे निराश करती हैं।

विकलांग महिलाओं और पुरुषों के लिए सबसे मुश्किल संवाद यौनिकता से जुड़े होते हैं क्योंकि यौनिकता का मुद्दा उनकी शारीरिक अपंगता की तरह उनके सामने मुंह बाए खड़ा नहीं होता। भारतीय समाज में महिलाओं के लिए यौनिकता शादी के दायरे में ही परिभाषित की जाती है। यह विडम्बना ही है कि विकलांग पुरुषों को 'ग़रीब' सामान्य महिलाएं साथी के रूप में मिल जाती हैं। परन्तु विकलांग महिलाओं को अपनी यौनिकता की अभिव्यक्ति करने वाले शब्द तक नहीं मिलते। एक ऐसी संस्कृति जहां किसी निश्चित 'मानक' से भेद को 'लीक से हटना' समझा जाता हो वहां एक 'क्षीण' शरीर एक अधूरेपन का प्रतीक बन जाता है। एक सुन्दर शरीर का प्रचलित मिथक क्षीण स्त्री शरीर को 'अमान्य' और 'गैर-औरताना' साबित कर देता है।

सामाजिक मानदंडों में भी विकलांग व्यक्तियों की यौनिकता को लेकर एक ख़ामोश साज़िश व्याप्त है; इस यौनिकता को उचित तवज्जो नहीं दी जाती। एक पितृसत्तात्मक समाज में विकलांग महिलाओं को विशेष रूप से दरकिनार किया जाता है। इस सामाजिक और सांस्कृतिक भेदभाव को बनाए रखने में एक ऐसा माहौल मदद करता है जो केवल सम्पूर्ण और स्वस्थ शरीर वालों लोगों के हितों को ध्यान में रखकर बनाया गया है। इसमें विकलांग व्यक्तियों के लिए मूल सुविधाएं भी उपलब्ध नहीं होतीं। यह सामाजिक अवहेलना विकलांग व्यक्तियों के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक दमन के अनुभवों के साथ मिलकर उन्हें अपनी बात कहने की जगह, सत्ता और आवाज़ से वंचित रखती है। इसके कारण मानदंडों के गहरे पैठे आदर्श, जो विकलांगों को एक सामाजिक मौजूदगी और पहचान बनाने से रोकते हैं को भी तोड़ना या चुनौती देना नामुमकिन हो जाता है।

मेरे दिमाग में विकलांगता के मायने किन्हीं टूटे-बिखरे व्यक्तियों से नहीं हैं; क्योंकि एक अनुपयुक्त समाज सिर्फ़ नियामक व्यवस्थाओं की कार्यकुशलता के अनुसार चलता है और उन्हीं के आर्थिक और राजनैतिक हितों को पूरा करता है। दुर्भाग्य से अपने साथ 'विकलांगता' की चिप्पी लेकर चलने वाली महिलाओं के लिए ये 'कलंक' एक ऐसा अलगाव पैदा करता है जिसके नतीजतन उनके मन में एक मायूसी और दुख की भावना घर कर लेती है। अलगाव का ये अहसास अक्सर उन्हें किसी 'कमी' को दबाने या उसे न पहचानने के लिए मजबूर कर देता है।

इस सोच की जड़ें भारतीय पौराणिक उदाहरणों में भी देखी जा सकती हैं। रामायण के अनुसार लक्ष्मण ने रावण की बहन 'शूर्पनखा' की नाक काट डाली थी जो उससे अपने प्रेम का इज़हार करने आयी थी। लक्ष्मण ने शूर्पनखा के इस 'अमान्य' व्यवहार की सज़ा उसे विकलांग बनाकर दी। धर्म ग्रन्थ की यह घटना भारतीय मानसिकता में व्याप्त 'विकलांगता' और गैर-औरताना रूप के बीच संबंध को उजागर करती है।

कुछ इसी तरह का ऐतिहासिक उदाहरण उत्तरी भारतीय पंजाबी संस्कृति में भी देखने को मिलता है जहां लड़कियां अपने ममेरे-फुफेरे भाई-भतीजों के साथ मेल-मिलाप तो रखती हैं परन्तु उनके साथ एक ही कमरे में सोने की उन्हें इज़ाज़त नहीं होती। दूसरी ओर विकलांग लड़कियों के लिए इस तरह की कोई मनाही नहीं होती क्योंकि उन्हें यौन रूप से सुरक्षित माना जाता है या कहें कि उन्हें यौनिकता-रहित समझा जाता है।

यह मान लिया जाता है कि वे इस आपसी मेल मिलाप को किसी यौन प्रस्ताव या इच्छा के तौर पर नहीं देखेंगी। ऐसा लगता है जैसे कि विकलांग लड़की इन सब भावनाओं से ऊपर कोई और ही जीव है; वह दूसरी लड़कियों की तरह नहीं है और वो दूसरों को 'कुछ गलत' करने के लिए उकसाएगी या आकर्षित नहीं करेगी।

एक जानकार दोस्त सरला ने मुझे बताया कि अपने मौसेरे भाई आदर्श के कमरे में सोना उसे अच्छा लगता था। पर उसे बहुत देर बाद समझ में आया कि उसका परिवार उसकी यौनिकता को नकार रहा था और इसलिए उसे यह विशेष 'छूट' दी जा रही थी। कुछ समय बात आदर्श ने उसकी यौनिक इच्छाओं को पूरी करने का प्रस्ताव रखा बशर्ते यह बात गोपनीय रखी जाए। तब सरला को महसूस हुआ कि वह एक 'गैर-यौनिक वस्तु' की तरह देखी जा रही थी। विडम्बना यह है कि यह घटना विकलांग लड़कियों के यौनिक शोषण की अवहेलना की सच्चाई को उजागर करती है जिसका सामना वे नियमित रूप से करती हैं। विकलांग लड़कियों के साथ परिवार के भीतर होने वाले यौन शोषण और नियंत्रण का यह सटीक उदाहरण है।

अपने अनुभव बांटते हुए अनेकों औरतों ने घर के अंदर रिश्तेदारों और जानकारों के हाथों हिंसा और शोषण के डर की बात साझा की है। हालांकि इस लिहाज़ से परिवार सीधे तौर पर विकलांग लड़कियों के लिए ज़िम्मेदार होता है। पर यह भी सही है कि इन लड़कियों के मन में एक डर की भावना भी इसी परिवार के अन्दर पैदा होती है क्योंकि शोषण और हिंसा के उनके अनुभवों को घर वाले महज़ कल्पना मानते हुए नज़रअंदाज़ कर देते हैं। एक अन्य दोस्त नीलिमा ने बताया, 'मैंने अपनी मां को जब अपने मामा के बारे में बताना चाहा तो उन्होंने विश्वास न करते हुए कहा— 'अरे वे तुम्हें क्यों तंग करेगा? उसको लड़कियों की कमी है क्या? तुमने कभी खुद को शीशे में देखा है?"

यह मान्यता कि विकलांगता और यौनिकता परस्पर अलग बातें हैं, विकलांग व्यक्तियों की सामान्य यौन इच्छाओं को न सिर्फ़ नज़रअंदाज़ करती है बल्कि उन्हें दूसरों की तरह यौन प्राणी मानने से भी इंकार करती है। ख़ुद अपने बारे में समझ बनाने के लिए यह ज़रूरी होता कि हम यह मानें कि हम सम्पूर्ण होकर ही पूरी तरह जी सकते हैं। परन्तु यौनिकता और विकलांगता के बीच का विरोधाभास और सांस्कृतिक अवमूल्यन इस चुप्पी को और बढ़ाते हुए विकलांग

व्यक्तियों के लिए एक सकारात्मक आत्म-पहचान विकसित के रास्ते में मुश्किलें पैदा करता है।

यहां मुद्दा यह है कि विकलांग व्यक्ति को अपनी यौनिकता स्थापित करने और उसे अपनी मर्ज़ी के अनुसार रचने के लिए संघर्ष करना होगा। यहां यह धारणा गलत है कि समाज में यह मान लिया जाता है कि विकलांग महिला की कोई यौनिकता होती ही नहीं है। उन्हें 'बच्चों की तरह' और 'यौनिकता-रहित' मान लिया जाता है और उनके द्वारा व्यक्त किसी भी यौन इच्छा को 'बहुत ज़्यादा' या 'विकृति' समझा जाता है। रोहतक बलात्कार मामले में यह माना गया है कि विकलांग महिला खुद अपने शोषण के लिए ज़िम्मेदार है। पर सच्चाई यह है कि हिंसा करने वाले यह जानते है कि ऐसी स्थितियों में वे आसानी से बच निकलेंगे। चूंकि विकलांगता अनेक स्तरों पर होती है इसलिए हिंसा की इन घटनाओं को समझना और इन

पर बात करना आसान नहीं होता। इसलिए यह ज़रूरी है कि हम विकलांग महिलाओं के साथ परिवार, पड़ौस और समाज में होने वाली हिंसा और शोषण की सच्चाई को समझें और इस पर खुलकर बात करें।

अनिता घई *दिल्ली विश्व विद्यालय में पढ़ाती हैं और विकलांग अधिकार कार्यकर्ता हैं।*

आत्मा की शांति

पूनम तुषामड़

वह बुला रही थी
पड़ोस की सभी लड़कियों को
उन्हें प्यार से बैठाती
तिलक लगाती
पांव पखारती,

सड़क पर झाड़ू लगाती
छोटी लड़की पर पड़ी
और उसके प्रति भी
मेरी संवेदना उमड़ पड़ी

मैंने उनसे कहा –
इसे भी बुलाकर खिला दो
पुण्य लगेगा
इतना सुनते ही सूख गई
उसकी अश्रु धारा
सिकुड़ गई भौंहे
छि, यह तो भंगी है।"

पूनम तुषामड़ *दलित कवयित्री हैं।*

जेंडर सम्बन्धों में बदलाव पुरुषों की भी ज़रूरत है

सतीश कुमार सिंह

महिला स्वास्थ्य में सुधार के लिए पुरुषों को जोड़ा जाना चाहिए इस विषय पर आज भी बहस चल रही है। बहुत सारी संस्थाओं, मीडिया और सरकार की यही राय है कि महिलाओं के मातृत्व स्वास्थ्य व प्रजनन व यौनिक स्वास्थ्य में पुरुष रोड़ा है, बाधक है और उन्हें यदि साथ में जोड़ लिया जाये तो लक्ष्य प्राप्त करना आसान होगा। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या उन सभी का इस मत पर विश्वास है या वे जल्दी से कम मेहनत करके अपना लक्ष्य पूरा कर लेना चाहते हैं।

यदि हम उनके इस चाहत व प्रयास का थोड़ा विश्लेषण करते हैं तो हमें पता चलता है कि यह सोच आधी-अधूरी है। ये सभी लोग लक्ष्य प्राप्ति के लिए पुरुष के व्यवहार में बदलाव की चाहत रखते तो हैं, किन्तु इसमें उनका विश्वास कम ही दिखता है। कहीं न कहीं 1975 के दौरान का डर पूरी तरह कम नहीं हो पाया है,जिसमें परिवार नियोजन के लिए बहुत बड़े पैमाने पर पूरी आक्रामकता के साथ पुरुष नसबन्दी का उपयोग किया गया था।

हम सभी लोग जो महिलाओं के स्वास्थ्य के लिए चिंतित हैं उन्हें मिल कर इस चाहत को विश्वास आधारित बनाना होगा। हमें यह भी समझना होगा कि कोई पुरुष क्यों इस पूरे झमेले में पड़े, वह अपनी स्वतंत्र ज़िन्दगी को खटाई में क्यों डाले? मैं इसे जब और समझने का प्रयास करता हूं तो सबसे पहले मुझे यह समझना पड़ता है कि क्या पुरुष ऐसा चाहेंगे? इसका उल्टा भी सोचा जा सकता है कि आख़िर पुरुष ऐसा क्यों नहीं चाहेंगे कि एक ऐसी व्यवस्था हो जिसमें सभी स्वस्थ हों और महिलाएं विशेष रूप से खुशहाल। इसे परखने के लिए मुझे अपने इस तरफ़ की यात्रा के अनुभवों की पड़ताल करनी पड़ेगी।

मुझे आज भी याद है कि 2001 में लखनऊ में सी.ई.डी.ए.डब्ल्यू. पर जागरूकता बढ़ाने के लिए अभियान "पूरा

नागरिक, पूरे अधिकार" चलाया जा रहा था जिसमें सहयोग के साथ उत्तर प्रदेश की कई नारीवादी संस्थाए जुड़ी थीं। हम लोग एक कार्यक्रम लखनऊ के स्वास्थ्य सचिवालय के सामने करने वाले थे जिसमें स्वास्थ्य निदेशक द्वारा एक पोस्टर का विमोचन किया जाना था। कार्यक्रम मे दौरान स्वास्थ्य विभाग के अधिकारियों के साथ कई कर्मचारी भी थे। हम लोगों ने सार्वजनिक तौर पर यह पूछा कि यहां उपस्थित पुरुषों में से कितने पुरुषों ने अपनी नसबंदी कराई है तो तीन सामाजिक कर्मियों के अलावा किसी ने भी हाथ नहीं उठाया। यह एक कड़वा सच है कि जो विभाग परिवार नियोजन में पुरुषों की भागीदारी सुनिश्चित कराना चाहता है उसमें उन्हीं का विश्वास नहीं है। इसलिए तो कुल लक्ष्य का 10 प्रतिशत पुरुष नसबन्दी रखा जाता था जिसमें से शायद एक प्रतिशत ही पूरा हो पाता था।

इससे एक सीख तो निकली की हमें इस बदलाव पर लोगों का विश्वास बढ़ाना होगा तथा पुरुषों की भागीदारी के सार्वजनिक भी करना होगा।

इस संदर्भ में जब कई नीतियों को प्रभावित करने वाले लोगों से बात होती रही है तो हमेशा यह प्रश्न उठता रहा

सभी फ़ोटोः सीएचएसजे, नई दिल्ली

है कि हम जो बात कहना चाहते हैं कि पुरुषों की भागीदारी महिला स्वास्थ्य में बढ़ानी चाहिए और यह सम्भव है पर हमारे देश में इस बात के ठोस सबूत नहीं है या जो सबूत हैं वे बहुत ही कमज़ोर हैं।

इस सबूत की खोज और अपनी समझ निखारने के लिए हमने अलग-अलग समय पर उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र व मध्यप्रदेश में प्रयास किए। इस सीख की यात्रा में यह समझ में आया कि समूह में बहुत सारे पुरुष हैं जो एक पितृसत्तात्मक व्यवस्था में असहज महसूस कर रहे हैं। वे भी एक ऐसा सपना देखना चाहते हैं जहां पुरुष एक इंसान के रूप में प्रतिबिंबित हो। बहुत सारे पुरुष हैं जो अपने जीवन साथी के साथ बच्चों के साथ भावनात्मक रूप से नज़दीक रहना चाहते हैं। और उनकी यह चाहत पितृवादी समाज को स्वीकार्य नहीं है। इस समाज को यह डर लगता है कि यदि पुरुष इतने भावुक व नज़दीकी रिश्ते में महिला के साथ आ गया तो पूरा नियंत्रण जो पुरुषों के पास है वह खिसक जाएगा।

अब प्रश्न है कि एक तरफ समाज पूरा नियंत्रण पुरुष के हाथ में रखना चाहता है और दूसरी तरफ़ महिलाओं के अच्छे स्वास्थ्य के सपने देखता है। पर समाज में बगैर महिला-पुरुष के रिश्ते बदले, यह कैसे सम्भव हो सकता है? इसका मतलब हमें पुरुषों को कंडोम बांटने या केवल नसबन्दी कराने के लिए प्रेरित करने के बजाय पुरुषों के साथ महिला पुरुष के सम्बन्ध बेहतर पर काम करना होगा। कुछ लोग हर समस्या के जल्दी समाधान की दवाई ढूंढना चाहते हैं और उन्हें लगता है कि कुछ आकर्षक प्रचार करके पुरुषों को बदला जा सकता है। पर यह तो भ्रम है। यह कोई साबुन से हाथ धोने या कोलगेट से दांत साफ़ करने का मामला नहीं है। यह तो महिला-पुरुष के बीच सत्ता सम्बन्धों का मुद्दा है और सत्ता सम्बन्ध बदले बगैर कोई सकारात्मक दूरगामी भागीदारी सम्भव नहीं है।

सत्ता सम्बन्धों को बदलने में एक बड़ी समस्या परिवार व समुदाय के बुजुर्ग व समवयी महिला-पुरुष दोनों हैं क्योंकि इन लोगों ने कभी न तो देखा, न सोचा था और न ही सोचना चाहते हैं। जब कभी कोई इक्का-दुक्का व्यक्ति कुछ नया करके दिखाना चाहता है या नए तरीक़े से जीना चाहता है तो उसे बेकार पुरुष का तमगा दिया जाता है। उसे कमतर पुरुष, जोरू का गुलाम आदि-आदि कहा जाता है। हम लोगों ने अपने काम से सीखा कि ये पुरुष जब तक अकेले-अकेले उदाहरण बनने का प्रयास करेंगे तब तक उन्हें हतोत्साहित किया जाता रहेगा। लेकिन यही पुरुष जब सामूहिक रूप से सत्ता सम्बन्ध को समझकर समानता आधारित व्यवहार करना प्रारम्भ करेंगे तो यह एक नया सामाजिक मापदण्ड बन जायेगा। यह बात कई पुरुष समूहों ने उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश व महाराष्ट्र में साबित करके दिखाई है।

हमने यह भी सीखा कि यदि पुरुष ज़िम्मेदार व संवेदनशील बनता है तो ऐसा नहीं है कि वह एक क्षेत्र में बनेगा व दूसरे क्षेत्र में नहीं। जैसे जो समूह सत्ता सम्बन्ध पर विश्लेषण करता है तथा स्वयं पर व्यक्तिगत व सामूहिक चिंतन करता है वह एक समता आधारित व न्याय संगत परिवार व समुदाय की कल्पना करने तथा उस तरफ़ बढ़ने का प्रयास करता है। तब पुरुष अपने जीवन साथी के बारे में सोचने लगता है कि उसके प्रजनन स्वास्थ्य व पूर्ण स्वास्थ्य में उसकी भूमिका क्या रही है।

हमने यह भी सीखा की जब तक पुरुष छिप-छिपकर या अकेले में बदला हुआ व्यवहार करता है तब तक दूर

तक परिणाम नहीं जा पाता। अतः पुरुषों को भी अपना व्यक्तिगत विश्वास व व्यवहार को सार्वजनिक करना पड़ेगा तभी बदलाव में दम व गति दोनों आती है। हमने पाया कि केवल समूह में एक दूसरे से सीखने वाले पुरुष ही अपनी पत्नी के इलाज के लिए या गर्भावस्था में जांच, टीका के लिए स्वास्थ्य केन्द्र नहीं ले जाते, बल्कि उनके देखादेखी दूसरे पुरुष भी यही व्यवहार अपनाना शुरू करते हैं, क्योंकि उनमें झिझक दूर होती है।

हमने कई पुरुषों की कहानियां इकठ्ठी करनी शुरू की और पाया कि पुरुषों ने अपने पत्नी के साथ बदले सम्बन्धों में अपना नुकसान नहीं पाया। सभी ने बताया है कि बदले सम्बन्धों का आनन्द उठाया है, उन्हें इससे बहुत फ़ायदा हुआ है। यानी पुरुष महिलाओं के जीवन व स्वास्थ्य सुधारने का काम नहीं करते बल्कि अपनी खुद की ज़िन्दगी सुधारने का काम करते हैं।

एक सदस्य ने बताया कि "मेरी जेंडर, सत्ता सम्बन्ध, मर्दानगी व यौनिकता पर समझ बढ़ने से जबरन यौन सम्बन्ध बिल्कुल रूक गया है। परिवार में निर्णय में महिलाएं भी भागीदारी निभाने लगीं और मुझे यह अहसास हुआ कि महिलाओं का यौन संबंध के लिए हां या ना कहने का अधिकार है और मुझे उसका सम्मान करना चाहिए।"

"जब मेरी पत्नी पहली बार गर्भवती हुई तो मैं उसकी कोई परवाह नहीं करता था और न ही कोई मदद करता था। मेरी लापरवाही का परिणाम मेरे बच्चे की मौत के रूप में हुआ। तीन साल बाद मैं समझदार परियोजना की प्रक्रियाओं से जुड़ा। जब दूसरी बार मेरी पत्नी गर्भवती हुई तो मैं उसके काम में हाथ बंटाने लगा और उसके स्वास्थ्य की देखभाल करने लगा। मैंने उसके साथ टीकाकरण के लिए जाना प्रारम्भ किया और प्रसव के समय भी उसके साथ गया। अभी मेरा बेटा दो साल का है। मैं उसकी देखभाल करता हूं, उसे नहलाता हूं, उसे खिलाता हूं और उसके साथ खेलता भी हूं। मैं अस्थाई गर्भनिरोध का खुद इस्तेमाल करता हूं। आज मैं और मेरी पत्नी खुशहाल ज़िन्दगी जी रहे हैं।''

हनुमान सिंह, *सिधी, मध्यप्रदेश (समूह लीडर)*

एक साथी ने बताया "मेरे परिवार में महिलाएं सभी पुरुषों के खाने के बाद खाती थीं। मैंने कभी अपनी पत्नी के स्वास्थ्य के बारे में सोचा ही नहीं। समूह में सीखने के बाद जब अपनी भूमिका पर चिंतन किया तो बहुत बुरा लगा। मैंने तुरंत अपना व्यवहार बदला। और अपनी पत्नी के साथ घर के काम में हाथ बंटाने लगा। घर में खाने की व्यवस्था में बदलाव लाया। मुझे अहसास हुआ कि महिलाएं अपनी बीमारी की बातें क्यों छिपाती हैं। वे पूरी तरह मेरे पर निर्भर हैं और इसी कारण उनका स्वास्थ्य काफ़ी खराब रहता है। मेरे व्यवहार व सोच में बदलाव से न केवल मेरे लिए बल्कि मेरे पूरे परिवार के लिए एक स्वस्थ माहौल तैयार हो पाया। मेरे व पत्नी के बीच में विश्वास भी बढ़ा है।"

ग्रामीण क्षेत्र चाहे उत्तर प्रदेश या मध्य प्रदेश का हो या कुछ मामलों में काफ़ी अग्रणी कहा जाने वाला महाराष्ट्र का हो जहां महिलाओं के स्वास्थ्य पर न तो पुरुषों को बात करने व चिंता करने की ज़रूरत समझी जाती थी और न ही आज़ादी थी। वहीं जहां जहां पुरुषों के साथ मर्दानगी, जेंडर, यौनिकता व स्वास्थ्य पर सघन रूप से काम हुआ है वहां काफ़ी पुरुष व्यक्तिगत बदलाव को सार्वजनिक कर रहे हैं। महिलाओं के स्वास्थ्य के लिए परिवार में तो पहल कर ही रहे हैं, स्वास्थ्य सुविधाओं की मांग व गुणवत्तापूरक स्वास्थ्य सुविधा की सामूहिक निगरानी भी कर रहे हैं। इससे ए.एन.एम व आशा के साथ उनके सम्बन्ध भी बेहतर हुए हैं।

यह देखकर हम इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि पुरुषों को केवल दोषी करार कर छोड़ देने से बात बहुत आगे नहीं बढ़ने वाली है। बल्कि उनकी मेन्टरिंग कर तथा अनुकूल वातावरण तैयार कर सामाजिक मानदण्ड बदलने की ज़रूरत है। इससे केवल महिला हिंसा ही नहीं कम होगी बल्कि महिलाओं का स्वास्थ्य भी सुधरेगा। पुरुष महिलाओं के नेतृत्व को घर में स्वीकारना सीखेंगे तथा बेटियों के साथ की सपना देखेगें जो पुरुषों की भी ज़रूरत है।

सतीश कुमार सिंह *सेंटर फ़ॉर हैल्थ एण्ड सोशल जस्टिस के निदेशक हैं।*

जेंडर आधारित हिंसा
स्वास्थ्य व्यवस्था की प्रतिक्रिया

नाज़िया हसन

जेंडर आधारित हिंसा किसी भी व्यक्ति के स्वास्थ्य और कल्याण का एक महत्वपूर्ण निर्णायक है जिसके दूरगामी तथा अल्पगामी प्रभाव व्यक्ति के शरीर, यौनिकता, प्रजनन, भावनाओं, सोच तथा सामाजिकता से जुड़े हो सकते हैं। शारीरिक हिंसा के प्रभाव, चोट, अनचाहे गर्भ, गर्भपात, मृत प्रसव आदि के रूप में अधिक स्पष्ट दिखाई देते हैं। हिंसा के दूरगामी व मनोवैज्ञानिक प्रभाव जैसे उदासी-अवसाद, भावनात्मक समस्याएं, आत्महत्या के प्रयत्न या भविष्य में तपेदिक, दमा जैसे रोग अधिक घातक होते हैं पर कम नज़र आते हैं। (यूनिसैफ़ 2000)

जेंडर आधारित हिंसा के सर्वाइवर्स जहां सबसे पहले पहुंचते हैं वह शायद स्वास्थ्य व्यवस्था ही है। अपनी चोटों के इलाज व डॉक्टरी-क़ानूनी सेवा पाने के लिए वे स्वास्थ्य सेवाप्रदाताओं के पास जाते हैं जो उन परिस्थितियों में उन्हें पुलिस की तुलना में कम भयावह लगते हैं। चूंकि आम हालात में यही संभावना अधिक है कि स्वास्थ्य सेवाएं तथा उन्हें देने वाले लोग ही सबसे पहले जेंडर आधारित हिंसा के उत्तरजीवियों के सम्पर्क में आएंगे इसलिए इस मुद्दे से निपटने में उनकी भूमिका व ज़िम्मेदारी बहुत महत्वपूर्ण हो जाती है।

भारत की मौजूदा स्वास्थ्य व्यवस्था की जेंडर आधारित हिंसा के प्रति प्रतिक्रिया से जुड़े मुद्दे और चिन्ताएं

जेंडर आधारित हिंसा के प्रति स्वास्थ्य व्यवस्था की प्रतिक्रिया को सम्पूर्ण स्वास्थ्य व्यवस्था के व्यापक ढांचे का हिस्सा बनना पड़ेगा जबकि आज हमारी स्वास्थ्य व्यवस्था ज़्यादा निजीकरण की ओर बढ़ रही है। वह अधिक मंहगाई, असमान उपलब्धता, खराब सुविधाओं और संसाधनों, कर्मचारियों के अभाव व निम्नतम सार्वजनिक निवेश की शिकार है। जेंडर पूर्वाग्रह तथा हिंसा स्वयं स्वास्थ्य व्यवस्था में रचे-बसे हैं जो दबावपूर्ण जनसंख्या नीतियों और केवल दो बच्चों की सोच में साफ़ दिखाई देते हैं।

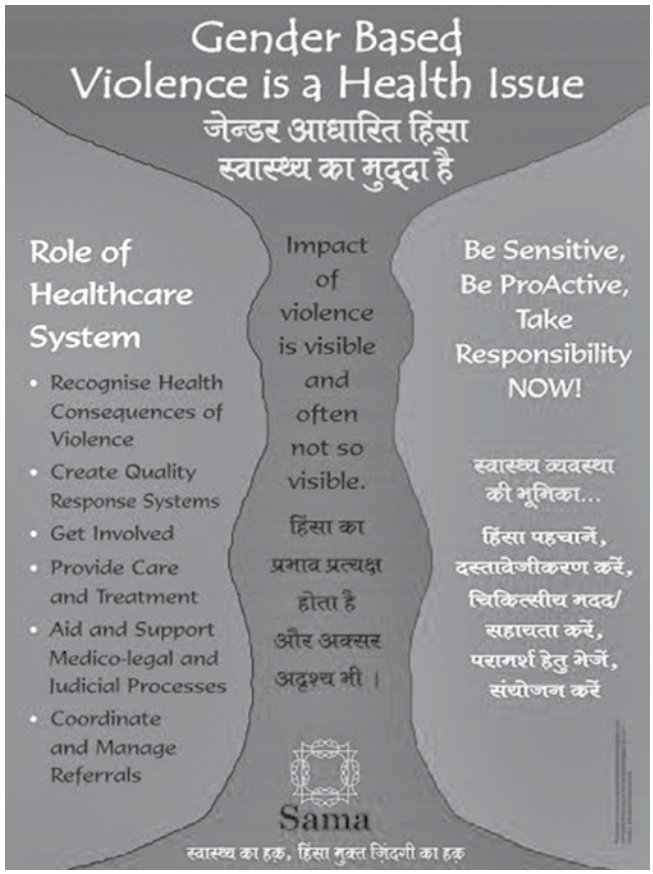

पोस्टर: सामा

आज भारत में मौजूदा स्वास्थ्य व्यवस्था की प्रतिक्रिया बिल्कुल अपर्याप्त है जो प्रायः पूर्वाग्रहों व असमान वितरण से ग्रसित है। वह इस समस्या को बहुत सीमित दृष्टि से देखते हुए सिर्फ़ डॉक्टरी-क़ानूनी सेवाएं देती है तथा दूरगामी चिकित्सा और सम्पूर्णात्मक देखरेख को नज़रअंदाज़ करती है। साथ ही यह प्रतिक्रिया भी जेंडर आधारित हिंसा के कुछ रूपों तक ही सीमित है जैसे यौन हिंसा जबकि जेंडर आधारित हिंसा के अधिक प्रचलित रूप घरेलू हिंसा के लिए कोई मदद उपलब्ध नहीं है। डॉक्टरों तथा नर्सों के पाठ्यक्रम में हिंसा को स्वास्थ्य के मुद्दे के रूप में देखा ही नहीं गया है। इसलिए जेंडर आधारित हिंसा के उत्तरजीवियों को जेंडर संवदेनशील और सम्पूर्णात्मक देखरेख देने का, न

तो उन्हें प्रशिक्षण मिलता है न ही इसके प्रति उनकी संवेदना विकसित होती है। यही कारण है कि 'दो उंगली जांच' जैसे असंवेदी तरीक़े आज भी जारी हैं। पुराने यौन इतिहास और योनि के ढीलेपन पर भी टिप्पणी की जाती है।

पिछले वर्ष 'समा' ने दिल्ली तथा छत्तीसगढ़ की स्वास्थ्य व्यवस्था में मौजूद तरीक़ों, विचारधाराओं और प्रतिक्रियाओं का परिस्थिति व आवश्यकता जन्य मूल्यांकन किया। जो बातें मुख्य रूप से उभर कर आईं वे थीं कि स्वास्थ्य सेवाप्रदाता डॉक्टरी-क़ानूनी सबूत इकट्ठा करने की प्रक्रिया, क़ानूनी प्रावधानों के बारे में स्पष्ट नहीं थे, मनोवैज्ञानिक-सामाजिक सहयोग का अभाव था तथा वर्तमान सहयोग व्यवस्था में भी आगे की चिकित्सा के लिए 'रैफ़र' करने की सुविधा नहीं थी। इसके अतिरिक्त पूर्वाग्रह तथा अनैतिक दृष्टिकोण व सोच भी दिखाई दिया।

उदाहरण के लिए दिल्ली में हुए मूल्यांकन में यह पाया गया कि अदालती आदेश तथा वर्मा आयोग की सिफ़ारिशों के बावजूद, जिसमें 'दो उंगली जांच' को अवैज्ञानिक और पूर्वाग्रह ग्रसित बताया गया है, तीन सरकारी अस्पतालों में यह जांच अब भी की जा रही है। छत्तीसगढ़ स्वास्थ्य व्यवस्था के भिन्न-भिन्न स्तरों का चार ज़िलों में मूल्यांकन किया गया। इन अधिकांश स्वास्थ्य सुविधाओं में 'दो उंगली जांच' तथा पुराने यौन इतिहास पर टिप्पणी का ढर्रा जारी पाया गया। यह भी देखा गया कि दिल्ली और छत्तीसगढ़ की किसी भी स्वास्थ्य सुविधा ने सर्वाइवर्स को कोई लिखित दस्तावेज़ नहीं दिया जैसे डॉक्टरी-क़ानूनी केस के कागज़ात, डॉक्टरी जांच की सूचित रज़ामंदी जांच, मालूमात दर्ज करने का निश्चित फॉर्म आदि। इनके स्थान पर उन्हें सिर्फ़ इलाज संबंधी पर्चा ही दिया गया।

चुनौतियों के बीच उभरते अवसर

पूरे विश्व तथा भारत में सभी जगह अब जेंडर आधारित हिंसा में स्वास्थ्य व्यवस्था की भूमिका को अधिकाधिक महत्व और मान्यता दी जा रही है। 2014 की *67वीं विश्व स्वास्थ्य सभा (WHA)* में स्वीकृत हुए प्रस्ताव में सदस्य सरकारों से यह सुनिश्चित करने की अपील की गई है कि हिंसा का सामना करने वाले लोगों को समय पर प्रभावी और सस्ती स्वास्थ्य सेवाएं मुहैया कराई जाएं, विशेष रूप से यौन तथा प्रजनन स्वास्थ्य से जुड़ी सेवाएं। हाल के वर्षों में भारत के कुछ क़ानूनी हस्तक्षेपों जैसे *यौन अपराधों से बाल सुरक्षा अधिनियम 2012* तथा *आपराधिक क़ानून संशोधन अधिनियम 2013* में जेंडर आधारित हिंसा से निपटने में स्वास्थ्य व्यवस्था की भूमिका को स्वीकारा तथा विशेष बल दिया गया है।

आपराधिक क़ानून संशोधन अधिनियम 2013 ने निजी स्वास्थ्य सुविधाओं को यौन हिंसा के उत्तरजीवियों को निःशुल्क आपात चिकित्सा देने का ज़िम्मेदार ठहराया है।

पिछले वर्ष 2014 में भारत सरकार के स्वास्थ्य तथा परिवार कल्याण मंत्रालय द्वारा यौन हिंसा के उत्तरजीवियों की डॉक्टरी-क़ानूनी देखरेख संबंधी दिशा निर्देशिका व आचार विधियां जारी की गई हैं। भारत में यौन हिंसा से जुड़ी स्वास्थ्य व्यवस्था की प्रतिक्रियाओं को परिभाषित और उनका ब्योरा देने की दिशा में, यह एक अहम कार्रवाई है। दिशा निर्देशों तथा आचार विधियों ने यौन हिंसा के उत्तरजीवियों की डॉक्टरी जांच का मानकीकरण करने की कोशिश की है तथा स्पष्ट दिशा निर्देश दिए गए हैं कि हाशिए पर जी रहे समूहों के लोगों के साथ कैसा व्यवहार किया जाय। साथ ही 'दो उंगली जांच' जैसी घिसी-पिटी प्रथा को बंद करके चिकित्सा की आचार विधि निश्चित करके तथा आरम्भिक मनोवैज्ञानिक सहयोग के दिशा-निर्देश देकर, इस पूरी प्रक्रिया में जेंडर संवेदनशीलता सुनिश्चित करने की कोशिश की है।

हालांकि ये सभी क़ानून व आचार विधियां स्वास्थ्य व्यवस्था की प्रतिक्रिया को सशक्त करने का रास्ता तैयार करते हैं परन्तु ज़मीन पर उनका प्रभावी कार्यान्वयन एक ऐसा विषय है जिस पर सभी को गंभीरता से ध्यान देने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त कुछ और उभरती आवश्यकताएं ये भी हैं कि स्वास्थ्य व्यवस्था में कर्मियों के हुनर व दृष्टिकोण को मज़बूत किया जाए, अस्पतालों के बीच 'रैफरल' की कड़ियां जुड़ें तथा स्वास्थ्य व्यवस्था की प्रक्रिया को बेहतर बनाने के लिए विभिन्न क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर वकालत हो।

नाज़िया हसन *समा स्वास्थ्य व संदर्भ केंद्र के साथ लिंग आधारित हिंसा पर काम करती हैं।*

अनुवादः वीणा शिवपुरी

अभियान

जीवन रक्षक दवाओं की क़ीमत और उपलब्धि

कल्याणी मेनन-सेन

हर साल लगभग एक लाख भारतीय महिलाओं को स्तन कैंसर होता हैं। इनमें से करीब एक-चौथाई औरतों में HER-2+ कैंसर के लक्षण पाये जाते हैं। कैंसर का यह रूप बहुत ही तीव्रता से फैलता है, इसके दोबारा होने की संभावना काफ़ी अधिक होती है और बड़ी तादात में पैंतालीस वर्ष से कम उम्र की महिलाएं इससे ग्रस्त हो रही हैं।

HER-2+ कैंसर की रोकथाम, तीव्रता को कम करने, दोबारा होने की संभावना घटाने और रोग मुक्त जीवन जीने के लिए *त्रास्तुज़ुमाब* (Trastuzumab) नाम की दवा विशेष रूप से प्रभावशाली पाई जाती है। इलाज़ के लिए इस औषधि की 12 या अधिक ख़ुराकें, हर तीन-चार हफ़्तों में नसों के ज़रिए रोगी को दी जाती हैं।

दुर्भाग्य की बात यह है कि इस दवा का लाभ बहुत कम भारतीय महिलाएं उठा पाती हैं क्योंकि इसकी क़ीमत ज़्यादातर लोगों की पहुंच से बाहर है। स्विस फार्मा कम्पनी *रोषे* (Roche) द्वारा *हरसेप्टिन* (Herceptin) नाम से बेची जाने वाली यह दवा दुनिया भर में बहुत भारी क़ीमत पर बेची जा रही है। 2010 में भारत में इसकी (444 मि.ग्रा. शीशी की) क़ीमत 1.15 लाख रुपये थी। 2012 में 72000 रुपयों की कम की गई कीमत पर यह दवा *हरक्लान* (Herclon) के नाम से भारत में बेची जा रही थी।

ज़ाहिर है कि हमारे देश में इतनी मंहगी दवा अधिकांश औरतों की पहुंच के बाहर है। हमने अनेक दिल-तोड़ने वाली आपबीतियां सुनी हैं— ऐसे कई उदाहरण हैं जिनमें डॉक्टर इस दवा के बारे में मरीज़ों को कोई जानकारी नहीं दी है क्योंकि वे जानते हैं कि यह मरीज़ सामार्थ्य के बाहर है; मरीज़ पैसे खत्म होने के कारण अपना पूरा इलाज़ नहीं करवाते; परिवार कर्ज़ या ज़ायदाद बेचकर इस दवा को खरीदते हैं; और औरतें जीने की आस छोड़ देती हैं क्योंकि वे जानती हैं कि उनके पास कोई और विकल्प नहीं है।

नवम्बर 2012 में इस दवा को कम दाम पर मरीज़ों के लिए मुहैया कराने के लिए एक अभियान चलाया गया। *"कैम्पेन फ़ॉर अफ़ोर्डेबल त्रास्तुज़ुमाब"* नाम से शुरू की गई इस मुहिम में 200 से भी अधिक मरीज़ समूह, कैंसर सर्वाइवर्स, क़ानूनविद्, स्वास्थ्य कार्यकर्ता व महिला आंदोलन समूहों ने शिरकत की।

हमारे आंदोलन ने *रोषे* के भारतीय पेटेंट को चुनौती दी। हमने सरकार को चेताया कि किस तरह *रोषे* इस दवा में कुछ छोटे-मोटे बदलाव करके पेटेंट की अवधि को बढ़ाने का प्रयास कर रही है। *रोषे* ने अन्य उत्पादकों को भी इस औषधि के सस्ते विकल्प विकसित करने के रास्ते क़ानूनी तौर पर बंद कर दिए हैं।

स्वास्थ्य मंत्रालय ने इस बात को मद्देनज़र रखते हुए एक विशेषज्ञों की समिति नियुक्त की जिसने इस औषधि के लिए अनिवार्य लाइसेसिंग का प्रस्ताव दिया जिससे प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहित करके क़ीमतों में कटौती लाई जा सके सके। अगस्त 2013 में *रोषे* ने बढ़ते दबाव को देखते हुए ऐलान किया कि वह *त्रास्तुज़ुमाब* से जुड़ा अपना पेटेंट अधिकार छोड़ रही है जिससे इस दवा के अन्य कम क़ीमती उत्पादन विकसित किए जा सकें।

इसके ठीक तीन महीनों के बाद भारतीय बायो-फार्मा कम्पनी 'बायोकॉन' ने घोषणा की कि उसे *त्रास्तुज़ुमाब* की तरह की दवा को बिक्री का अधिकार हासिल हो गया है। 'बायोकॉन' ने इस दवा को यूएस की कम्पनी 'मायलन लेबोरेट्रीज़' के लिए विकसित किया था। 'बायोकॉन' की किरण मजूमदार शॉ ने यह भी आश्वासन दिया कि यह दवा 'उचित' क़ीमतों पर भारत में उपलब्ध कराई जाएगी।

जनवरी 2014 में जब बायोकॉन ने *त्रास्तुज़ुमाब* को *कैनमैब* (Canmab) ब्रांड के तहत बाज़ार में उतारा तो 150 मि.ग्रा. शीशी की क़ीमत 19,500 रुपये और 440 मि.ग्रा. शीशी का मूल्य 57,500 रुपये रखा गया। हालांकि

कैनमैब की छोटी शीशी रोगियों को फ़ायदा पहुंचा सकती है पर अफ़सोस यह है कि कैंसर के मरीज़ों के लिए ज़रूरी 440 मि.ग्रा. की शीशी का मूल्य व *हरसेप्टिन/हरक्लॉन* की मौजूदा क़ीमत में कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं है।

अभियान ने अब 'बायोकॉन' और उसके अमरीकी पार्टनर 'मायलन' से अपील की है कि *'कैनमैब'* की क़ीमत 1000/- (150 मि.ग्रा.) और 5000/- (440 मि.ग्रा.) रखी जाये जिससे HER-2+ ग्रस्त भारतीय महिलाओं को स्वस्थ और रोगमुक्त जीवन जीने का मौका मिल सके। साथ ही क़ीमत को कम करने से दूसरे विकासशील देशों में रहने वाली उन करोड़ों महिलाओं को भी राहत मिल सकेगी जो स्तन कैंसर से जूझ रही हैं।

पर *त्रास्तुज़ुमाब* ही केवल एक ऐसी कैंसर की दवा नहीं है जो ज़रूरतमंदों की पहुंच से बाहर है। कुछ अन्य दवाएं भी हैं— जैसे ल्यूकीमिया-खून के कैंसर में उपयोगी दवा *दसातिनिब* (Dasatinib) जिसकी एक महीने की खुराक की क़ीमत एक लाख रुपये है। इसे बनाने वाली कम्पनी ब्रिसटल-मायर्स-स्क्विब ने इसका विकल्प बनाने वाले उन भारतीय उत्पादाकों के ख़िलाफ़ आदेश हासिल कर लिया है जो इसे मूल क़ीमत की दसवीं क़ीमत इसका विकास करने की क्षमता रखते हैं।

सच्चाई तो यह है कि सामाजिक ज़िम्मेदारी के तहत फार्मा कम्पनी द्वारा चालए 'उपलब्धता कार्यक्रम' या 'स्वेच्छा से कम की गई क़ीमतों' से दवाओं के मूल्य बहुत अधिक कम नहीं किए जा सकते बल्कि बाज़ार में दूसरे उत्पादकों की मौजूदगी से होने वाली खुली प्रतिस्पर्धा इसमें अधिक कारगर साबित हो सकती है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि कम्पनियां वैश्विक बाज़ार पर नज़र रखकर ही अपनी क़ीमत सबंधी नीतियां तय करती हैं— भारत में क़ीमतें कम होने का प्रभाव दूसरे देशों के बाज़ार पर भी पड़ता है। *रोशे* ने भी चौदह सालों तक मुनाफ़ा कमाने के बाद ही इस दवा की क़ीमत कम की थी। इस रणनीति के तहत अपने निवेश में करोड़ों का इज़ाफ़ा करने के बाद ही यह क़दम उठाया गया था— हालांकि इसके कारण विकासशील देशों में न जाने कितने लोगों ने अपनी जान गवां कर इस मुनाफ़े में वृद्धि की।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार हर वर्ष सात लाख भारतीय कैंसर से मरते हैं। करीब दस लाख लोगों को हर वर्ष कोई न कोई बीमारी से जूझना पड़ रहा है। इसमें HER-2+ स्तन कैंसर के 25000 केस भी शामिल हैं।

कैंसर औषधियों की लड़खड़ाती क़ीमतों का मानवीय मूल्य आंके तो हम जानेंगे कि यह कितनी सर्वग्राही रही है; फिर चाहे यह अनुमान मरने वालों की संख्या, इंसानों की पीड़ा या उनके परिवारों द्वारा झेले जाने वाली यातना के आधार पर लगाया गया हो। इन परिस्थितियों में दवाओं की क़ीमत को नियंत्रण और सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था के माध्यम से उसकी उपलब्धि को लेकर सरकार की बेरुखी हमें बिल्कुल स्वीकार नहीं है।

हम एक बार फिर भारत सरकार से मांग करते हैं कि वे इस सच को पहचानें कि *त्रास्तुज़ुमाब* जैसी कैंसर विरोधी, जीवन रक्षक दवाओं की ऊंची क़ीमतें इस मूक महामारी को रोकने की राह में रुकावट पैदा कर रही हैं। हमारी गुज़ारिश है कि सरकार इन दवाओं के मूल्य को नियंत्रित करने की दिशा में ठोस क़दम उठाए।

हम भारत सरकार से मांग करते हैं कि:

- अपनी शक्ति का उपयोग करके पेटेंट संबंधी रुकावटों को हटाने के लिए सशक्त अनिवार्य लाइसेंसिग जैसे क़दम उठाएं विशेषकर जब सवाल मंहगी कैंसर की दवाओं के सस्ते विकल्प विकसित करने का हो।
- भारतीय बाज़ार में कैंसर औषधियों की क़ीमतों पर निगरानी व नियंत्रण रखें और सभी पेटेंट की गई कैंसर औषधियों को औषधि मूल्य निर्धारण प्रणाली की परिधि में लाने का आदेश पारित करें।
- भारत के सभी नागरिकों को सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था के माध्यम से कैंसर की औषधि मुहैया कराएं।
- मरीज़ समूहों, स्वास्थ्य अधिकार समूहों, नागरिक समाज संगठनों के साथ विचार-विमर्श करके कैंसर की दवाओं के मूल्य को कम करने और उन तक पहुंच बढ़ाने के लिए ठोस अगुवाई करें।

कल्याणी मेनन सेन *नारीवादी शोधकर्त्ता व लेखिका हैं।*

परम्परा

मां की थाली में बासी रोटी
मेरी कटोरी में दूध पराठा
रोटी मांगने पर भी मां ने नकारा
प्यार से बोली
लड़के कभी बासी नहीं खाते
मेरे वंश के दीप, तुम ही तो सहारा हो
ताज़ी रोटी खाओगे तंदरुस्त हो जाओगे।

मैं, मेरे पिताजी रोज़ दूध का कटोरा
ताज़ा पराठा
बहन जब स्कूल से आई
मां के साथ खाना खाई
बासी रोटी में उसका हिस्सा
मां बोली यह तो परम्परागत किस्सा
ससुराल में जाएगी भाग्य से अपने खाएगी
आदत होनी चाहिए नहीं तो सह नहीं पाएगी।

पहले पहल मन में सवाल उठा
फिर अन्दरूनी एक सख़्त दीवार
खड़ी होती गई बहुत कड़ी
जहां मेरा अहम था पहरेदार!

सुभाषिनी मिस्त्री का अस्पताल

आज हम आपको एक ऐसी महिला से मिलवा रहे हैं जिन्होंने अपने जीवन में एक सपना देखा और उसे जी जान लगाकर पूरा भी किया।

इस महिला का नाम है सुभाषिनी मिस्त्री। चौबीस परगना, पश्चिम बंगाल के एक छोटे से गांव हंसपुकुर में रहती है सुभाषिनी। उनका जन्म बंगाल के ग़रीब किसान परिवार में हुआ। 12 साल की उम्र में शादी हुई। चार बच्चे हुए— दो लड़के अजय और सुजय, दो लड़कियां, उत्तरा और बिफला।

तेतीस साल की उम्र में सुभाषिनी के पति की मौत हो गई। उसका पति खेत मज़दूर का काम करता था। एक शाम वह पेट के दर्द की तकलीफ़ लेकर घर लौटा। गांव के पास कोई इलाज की जगह नहीं थी। अस्पताल पंद्रह किलोमीटर दूर था। घर में पैसे की तंगी थी। किसी तरह उधार मांग कर सुभाषिनी अपने पति को शहर के अस्पताल ले गई। पर उसे बचा न सकी।

पति के मरने के साथ ही उसकी आमदनी के सब रास्ते बंद हो गये। उस पर चार छोटे बच्चों की ज़िम्मेदारी। पर सुभाषिनी बड़ी हिम्मत वाली थी। उसने तय किया कि वह काम करेगी। पैसे जोड़ेगी और गांव में अस्पताल बनाएगी।

शुरू-शुरू में गांव के लोग उसका मज़ाक उड़ाते थे। जिसके पास रोटी खाने के पैसे नहीं थे वह अस्पताल खोलने का सपना कैसे पूरा करेगी। पर कहते हैं न हिम्मत हो तो सब कुछ हो सकता है। ऐसा ही सुभाषिनी के साथ हुआ।

सबसे पहले उसने पास के घरों में बर्तन मांजने और साफ़-सफ़ाई का काम शुरू किया था। इस काम से वह पचास रुपये महीना कमाने लगी। पर घर के सारे खर्च करते-करते पैसा बचता नहीं था। फिर भी किसी न किसी तरह उसने दो-तीन रुपये बचाने शुरू किए।

साथ ही साथ सुभाषिनी ने खेतों में खुदाई, बीज रोपने, खर-पतवार उखाड़ने जैसे काम भी शुरू कर दिये। पर फिर भी चार-चार बच्चों की देखभाल और पढ़ाई ठीक से नहीं हो पा रही थी।

यह सब देखकर सुभाषिनी ने एक सख्त फ़ैसला लिया। उसने अपने दो बच्चों, अजय और बिफला को एक सरकारी कल्याण केंद्र भेज दिया। हालांकि वह अपने बच्चों से दूर होकर दुखी थी फिर भी उसे इस बात की तसल्ली थी कि दोनों बच्चों को अच्छी शिक्षा और भरपेट खाना मिल सकेगा। हर हफ़्ते कुछ मिठाई लेकर वह उनसे मिलने जाती और उन्हें समझाती कि यह सब उनकी एक अच्छी ज़िन्दगी के लिए ज़रूरी है। महीने में एक बार वह बच्चों को चार पांच दिनों के लिए घर ले आती थी।

खुद अपने लिए भी उसे आराम नहीं था। तीन-चार तरह के काम करती जिससे ज़्यादा पैसा कमा सके। अस्पताल खोलने का उसका इरादा दिन-ब-दिन मज़बूत होता जा रहा था।

फिर कुछ जान-पहचान वालों ने सलाह दी कि वह एक सब्ज़ी बेचने की दुकान शुरू करे। उसने बात मान ली और आसपास के खेतों से सब्ज़ी लाकर कोलकाता के पार्क सर्कस रेलवे स्टेशन के पुल के एक कोने में अपना काम शुरू किया। दुकान चल निकली। दोपहर तक उसकी सारी सब्ज़ी बिक जाती और उसे पचास रुपये का फ़ायदा होता। इस पचास रुपये में से खेत मालिकों का हिस्सा चुकाकर वह अपना पैसा जोड़ने लगी। शाम के समय वह अपना बर्तन और सफ़ाई का काम भी करती थी।

अब वह महीने भर में अस्पताल के लिए सौ-दो सौ रुपये बचा पाती थी। बच्चों के थोड़े बहुत खर्चे पूरे करने के बाद वह ज़्यादा से ज़्यादा पैसे बचाने लगी।

कुछ समय बाद उसने सारे दूसरे काम बंद कर दिए और सिर्फ़ सब्ज़ी बेचने का काम करने लगी। धीरे-धीरे अब वह पांच सौ रुपये बचाने लगी। साथ ही वह अपने बच्चों की पढ़ाई का भी पूरा ध्यान रखती। कोई और खर्चा उसके लिए मायने नहीं रखता था।

1992 तक उसने अस्सी हज़ार रुपये जोड़ लिए थे। पास ही के एक ज़मींदार से सिफ़ारिश करके उसने एक बीघा ज़मीन खरीद ली। उसने अब अपना अस्पताल बनाने का फ़ैसला साथी गांव वालों के सामने रखा और उनसे मदद मांगी। कुछ लोग उसके साथ हो लिए पर कुछ लोगों ने उसका मज़ाक उड़ाया।

गांव वालों ने थोड़ा-बहुत करके उसे 936 रुपये जोड़कर दिए। जिन लोगों के पास पैसे नहीं थे उन्होंने रेत, बांस और अपनी मेहनत देकर उसकी मदद की। 1993 के अंत तक एक छोटा सा शेड डालकर गांव में अस्पताल शुरू हो गया था।

सुभाषिनी का बेटा अजय एक होनहार छात्र था। उसने कड़ी मेहनत की और वजीफ़ा पाकर डॉक्टरी की डिग्री हासिल की। अपने कुछ साथियों के साथ मिलकर अजय मरीज़ों का इलाज करने लगा। साथ ही वह एक प्राइवेट अस्पताल में नौकरी भी करता था। उसकी बहनें व छोटा भाई भी अस्पताल में मदद करते। सबसे पहले दिन अस्पताल में 252 मरीज़ों को दवा दी गई। सुभाषिनी खुश थी परन्तु उसका सपना अभी पूरा नहीं हुआ था।

उसने दोबारा सब्ज़ी बेचना शुरू कर दिया। छोटा बेटे सुजय ने भी पढ़-लिखकर एक अच्छी नौकरी हासिल कर ली। अजय ने कुछ बड़े उद्योगपतियों और कंपनियों से मदद की गुहार लगाई। धीरे-धीरे लोगों, कंपनियों और कल्याण संस्थाओं ने अस्पताल के लिए दान देना शुरू कर दिया। 5 फ़रवरी 1995 को दो मंज़िले *मानवता अस्पताल* की नींव रखी गई और 9 मार्च 1996 को अस्पताल लोगों के लिए खोल दिया गया।

आज *मानवता अस्पताल* से 38 डॉक्टर जुड़े हैं जो दिन में तीन से चार घंटे देकर मरीज़ों का मुफ़्त इलाज करते हैं। यहां 74 नर्स और 16 सहयोगी कर्मचारी हैं जो शुरुआत में तो स्वयं सेवकों की तरह काम करते थे, पर हाल ही में उनकी सेवाओं के लिए उन्हें कुछ मुआवज़ा दिया जाने लगा है।

अस्पताल में कुछ ख़ास सुविधाएं बढ़ाने के लिए रिलायंस उद्योग ने एक बड़ा अनुदान भी दिया है। इसकी मदद से प्रसूति विभाग, दिल की बीमारी का इलाज करने की सुविधाएं, आघात सुविधाएं आदि शुरू की गई हैं।

ग़रीबों के लिए इन अस्पताल में विशेष सुविधाएं हैं। सौ बिस्तर वाले इस अस्पताल में साठ बिस्तरों पर मरीज़ों का मुफ़्त इलाज किया जाता है। बाकी चालीस मरीज़ों से हज़ार और पांच हज़ार के बीच की रकम ली जाती है जिससे पूरे सौ मरीज़ों का इलाज हो पाता है।

इस अस्पताल में अब तक करीब ढाई लाख ग़रीबों का मुफ़्त इलाज हो चुका है। अनेक पैसे वाले लोगों उद्योगों और मददगारों की सहायता से सुभाषिनी मिस्त्री का यह सपना सच हो गया है। हिम्मत, अनुशासन और पक्के इरादों वाली इस अनपढ़ और ग़रीब महिला ने हमें एक ऐसा प्रेरणादायक रास्ता दिखाया है जिसकी मिसाल शायद ही कहीं देखने को मिलती है।

सुभाषिनी मिस्त्री लगभग 75 साल की हो चुकी है पर हौसले और इच्छा शक्ति की कमी उसमें आज भी नहीं है। वह कहती है— अपने पति के मरने के बाद मैंने खुद से यह वादा किया था कि इस गांव में कोई व्यक्ति बिना इलाज के नहीं मरेगा। मुझे तसल्ली है कि मैंने अपना वादा पूरा कर दिया है।

इस जीवट महिला को हमारा सलाम!

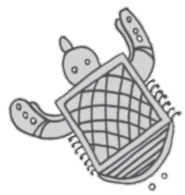

किशोर गर्भावस्था– कुछ अहम मुद्दे

भारत में किशोर गर्भावस्था यानी टीनेज प्रेगनेंसी के आंकड़े बढ़ते चले जा रहे हैं। सन 2008 मे यूएनएफ़पीए द्वारा किए गए सर्वेक्षण से निम्न चार तथ्य सामने आए:

- भारत में हर हज़ार महिलाओं में से 62 महिलाएं किशोरावस्था में गर्भ धारण करती हैं।
- किशोर गर्भावस्था की समस्या ग्रामीण इलाकों में ज़्यादा व्यापक है।
- 15-19 वर्ष के बीच 4 प्रतिशत किशोरियां गर्भवती हो जाती हैं।
- 2005-16 के दौरान पाया गया कि किशोर गर्भावस्था दर जम्मू क्षेत्र में 0.8 प्रतिशत (सबसे कम) तथा पश्चिम बंगाल इलाके में 6 प्रतिशत (सबसे ज़्यादा) थी।

विश्व संगठन के अनुसार–

- विवाह के बाद गर्भवती होने वाली दुनिया की 16.4 महिलाओं में चार करोड़ भारतीय किशोरियां शामिल हैं।
- भारत की कुल सालाना जचगियों में 16 प्रतिशत मामले टीनेज प्रेगनेंसी के होते हैं।
- मातृ मृत्युदर आकड़ों में 9 प्रतिशत किशोरी माएं शामिल हैं।
- यूएनएफपीए के अनुसार– भारत में हर घंटे 15 से 24 आयु वर्ग की महिलाओं में 3-7 मौतें जचगी, असुरक्षित गर्भपात और गर्भ संबंधी जटिलताओं के कारण होती हैं।

आइए अब एक नज़र विश्व के आंकड़ों पर भी डालें–

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार–

- निम्न और ग़रीब देशों में हर वर्ष पंद्रह से कम उम्र वाली 16 करोड़ किशोरियां और 2 करोड़ युवतियां बच्चों को जन्म देती हैं।
- विश्व स्तर पर 18 वर्ष से कम पांच में से एक लड़की ने गर्भधारण किया है।
- विश्व के सात देशों में दुनिया की 50 प्रतिशत किशोरी माएं हैं। ये देश है– बंगलादेश, ब्राजील, कॉन्गो, इथोपिया, भारत, नाइजीरिया और अमरीका।
- करीब 95 प्रतिशत किशोरावस्था जचगियां निम्न व मध्यम आय वाले देशों में होती हैं।
- अनुमानित है कि 15-19 वर्ष की तीन करोड़ लड़कियां असुरक्षित गर्भपात कराती हैं।
- दुनिया भर की 13 प्रतिशत किशोरियां जचगी के दौरान मर जाती हैं।
- किशोरी माताओं को पैदा होने वाले बच्चों में से 50 प्रतिशत मृत पैदा होते हैं या कुछ समय बाद मर जाते हैं।
- विश्व स्तर पर 15-19 वर्ष की लड़कियों में होने वाली मृत्यु का कारण गर्भपात, जचगी या गर्भ संबंधी समस्याएं हैं।

क्या आप जानती हैं कि किशोरावस्था में गर्भधारण हमारे समाज की एक बहुत जटिल समस्या है। 12-14 वर्ष के किशोर-किशोरियां असुरक्षित यौन संबंधों के कारण इस समस्या के शिकार होते हैं।

किशोरावस्था उम्र का एक ऐसा पड़ाव है जहां एक लड़की या लड़के के शरीर में अनेक तरह के अंदरूनी बदलाव आते हैं। ये बदलाव हारमोन

संबंधी होते हैं और इस दौरान किशोर तरह-तरह के मानसिक दबावों से गुज़रते हैं। शरीर के अंदर होने वाले बदलावों को पूरी तरह न समझने के कारण उनमें भावनात्मक उतार-चढ़ाव भी होते हैं। इस दौरान उन्हें अपने हम उम्र साथियों का साथ ही सबसे अधिक अच्छा लगता है। इस दौरान माता-पिता को उन्हें समझदारी और प्यार से सहेजना पड़ता है। उनकी परेशानियों, मूड, सवालों सभी का शांति और सही जवाब देने से हम इस दौर में उनका विश्वास जीत सकते हैं।

शारीरिक और भावनात्मक बदलावों के साथ-साथ माहवारी, यौन संबंध और आकर्षण जैसे अनेक मुद्दे किशोरों के सामने आ खड़े होते हैं। ऐसे में अगर असुरक्षित यौन संबंध के कारण गर्भ ठहर जाए तो किशोर शरीर और मन इस ज़िम्मेदारी के लिए पूरी तरह तैयार नहीं होता।

भारत में बाल विवाह की सामाजिक समस्या भी बहुत हद तक किशोर गर्भावस्था की समस्या के लिए ज़िम्मेदार है। छोटी उम्र में शादी हो जाने पर बच्चियां अपनी तथा गर्भ में पलने वाले बच्चे की सही देखरेख करने में खुद को असक्षम पाती हैं। न तो उन्हें इस विषय में कोई जानकारी या मदद मिलती है और न ही वे शारीरिक तौर पर इसके लिए तैयार होती हैं। इसी तरह किशोर लड़के भी पिता संबंधी ज़िम्मेदारियों तथा सुरक्षित यौन संबंध बनाने के विषयों से अनजान होते हैं।

इस छोटी उम्र में माता-पिता बनने वाले किशोरों में मानसिक तनाव, खून की कमी, अवसाद, चिड़चिड़ापन और डर जैसी भावनाएं पैदा होती हैं। दूसरी ओर पैदा होने वाले बच्चे में कम वज़न, पोषण की कमी जैसी समस्याएं भी आम हैं।

भारत में मातृ मृत्यु दर की गंभीरता किशोर गर्भावस्था से काफ़ी हद तक संबंधित है। हर साल बच्चों को जन्म देते समय लगभग 78000 किशोरियों-लड़कियों की मृत्यु हो जाती है।

इस सामाजिक परिवेश में यह बहुत ज़रूरी हो जाता है कि हम किशोर गर्भावस्था से जुड़ी कुछ ज़रूरी जानकारी को ध्यानपूर्वक समझें।

सबसे पहले यह ध्यान रखें कि किशोरावस्था में यौन संबंध बनाने से पहले उसके बारे में पूरी व सही जानकारी हासिल कर लें। यौन संबंध सही समय यानी सही उम्र और सुरक्षित हों यह भी ज़रूरी है।

फिर भी अगर किसी कारण गर्भ ठहर जाए तो घबराएं या इसे छुपाएं नहीं। किसी बड़ी उम्र के व्यक्ति जैसे माता-पिता, नज़दीकी रिश्तेदार, शिक्षिका से इसके बारे में बात करें और मदद मांगे। हो सकता है कि आपको नाराज़गी, गुस्से या डांट का सामना करना पड़े। पर यह भी सही है कि डरने या इस बात को छिपाने से आपकी परेशानी कम नहीं होगी। आपके बड़े मदद आपकी ज़रूर करेंगे। ज़ल्दबाजी और डर में किसी भी तरह का गलत क़दम जैसे असुरक्षित गर्भपात आदि का खतरा न उठाएं। इससे आपको लम्बे दौर में स्वास्थ्य समस्याएं हो सकती हैं। इसलिए हर क़दम सोच-विचार कर ही उठाएं।

अभिभावकों को भी चाहिए कि वे अपने बच्चों को सही समय पर सुरक्षित यौन संबंध, गर्भ निरोधक, अनचाहे गर्भधारण और गर्भपात जैसे स्वास्थ्य संबंधी मुद्दों पर जानकारी दें जिससे किशोरों में एक आत्मविश्वास और ज़िम्मेदारी का अहसास पैदा हो और साथ मिलकर किसी भी छोटी या बड़ी समस्या का समाधान निकाला जा सके।

सरकारी डिस्पेंसरी की कमी

दुनु रॉय

1857 के ग़दर के तुरन्त बाद का ज़माना था, प्रिसिला विंटर 16 साल की उम्र में कलकत्ता पहुंची। उसे विलायत से भारतीय महिलाओं में ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए भेजा गया था। परन्तु कलकत्ता की महिलाओं को घर की दहलीज़ से निकलने का मौका बस उस समय मिलता था जब वे घाट पर पूजा करने जाती थीं। इसलिए जब पांच साल बाद प्रिसिला की शादी हुई और वह अपने पति के साथ दिल्ली आई तो उसने यमुना घाट पर दवाई बांटने का काम आरम्भ किया। 1864 में जब दिल्ली में हैजा फैला तब देसी महिलाओं पर उसका असर देखकर प्रिसिला की आत्मा कांप उठी और वह विलायत लौट गयी।

विलायत में चैन से रहने की जगह प्रिसिला केवल महिलाओं के लिए डिस्पेंसरी खोलने के लिए पैसा जुटाने में लग गयी। 1867 में दिल्ली लौटकर उसने दिल्ली महिला मेडिकल मिशन की स्थापना की और चांदनी चौक में महिलाओं के लिए पहली डिस्पेंसरी खोली। धीरे-धीरे मिशन बढ़ता गया। 1875 में नर्सों के प्रशिक्षण का काम प्रारम्भ हुआ; 1881 में प्रिसिला का देहांत हो गया लेकिन फिर भी करनाल में एक शाखा खोली गयी; और 1885 में, प्रिसिला विंटर की याद में, दिल्ली में महिलाओं और बच्चों के लिए खैराती अस्पताल बनाने का सपना पूरा हुआ— जिसे हम आज सेंट स्टीफ़न अस्पताल के नाम से पहचानते हैं। 1906 में सेंट स्टीफ़न अस्पताल का तीस हज़ारी के पास स्थानांतरण हो गया।

आज उसी सेंट स्टीफ़न अस्पताल का हाल कैसे बदल गया है उसका अंदाज़ा लगाने के लिए 22 वर्षीय सुमन की कहानी सुनिए। नवम्बर 2014 में उसका पति बीमार सुमन को अस्पताल लेकर आया। जांच करने पर पता चला कि सुमन के मस्तिष्क में ट्यूमर (रसोली) है। ऑपरेशन और इलाज करने में 22 दिन लगे लेकिन सुमन के पति को अस्पताल में पांच लाख जमा करने के बाद ही छुटकारा मिला। एक शताब्दी में प्रिसिला के मुफ़्त चिकित्सा प्रदान करने के सपने को आज की बाज़ारी ताक़तों ने पूरी तरह से हज़म कर लिया है। उन्हीं ताक़तों ने सरकारी चिकित्सालयों को भी पंगु करने का काम किया है ताकि निजी अस्पतालों को कमाने के खुली छूट मिल जाए।

2007 से पहले दिल्ली में 56 प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र (पी.एच.सी.) थे। फिर उनको बंद करके 2011 तक 1019 सरकारी डिस्पेंसरी खोली गईं जबकि महायोजना के मानकों के मुताबिक उस वक़्त 1675 डिस्पेंसरी होनी चाहिए थीं। दिलचस्प बात यह है कि दिल्ली के 2011 तक की महायोजना के मुताबिक 7500 की आबादी पर एक डिस्पेंसरी का प्रावधान था। उसके बाद जब 2021 तक की महायोजना का पहला प्रस्ताव आया तो उसमें इस प्रावधान को शामिल नहीं किया गया। लोगों के दवाब के चलते इस प्रावधान को दोबारा वापस तो लाया गया परन्तु मानक को बदल कर इसमें 10000 लोगों की आबादी पर एक डिस्पेंसरी खोलने का प्रावधान किया गया। पूर्व मानक के अनुसार आज की तारीख में 2433 डिस्पेंसरी होनी चाहिए थीं।

2001 में जनवादी महिला समिति द्वारा दिल्ली की बस्तियों में 5000 महिलाओं के साथ किए सर्वेक्षण में पाया गया था की 17 प्रतिशत औरतों को पेट की बीमारी थी, 6 प्रतिशत मलेरिया से ग्रस्त थीं, और 3 प्रतिशत को हैजा हो गया था। तीन चौथाई महिलाएं प्रति महीने औसतन 600 रुपये निजी डॉक्टरों पर खर्च कर रही थीं। फिर भी केवल 28 प्रतिशत महिलाएं (लगभग एक-चौथाई) ही सरकारी डिस्पेंसरी या अस्पताल में जाने को तैयार थीं क्योंकि सरकारी व्यवस्था काफ़ी लचर थी। दिल्ली सरकार की आमदनी में से इस समय मात्र 0.6 प्रतिशत स्वास्थ्य सेवाओं पर खर्च हो रहा है—

यानी रुपये में एक पैसा भी नहीं, जबकि एक ग़रीब परिवार एक रुपये में 20 पैसे अपने स्वास्थ्य खर्च कर रहा है।

जब तक स्वास्थ्य सेवाओं का यही हाल रहेगा और दिल्ली की महिलाओं के विभिन्न रोगों और परेशानियों पर ध्यान नहीं दिया जाएगा तब तक एक स्वस्थ आबादी भी पैदा नहीं हो सकती। आंकड़ों के मुताबिक पूरी दिल्ली में 1000 में से 40 बच्चों की मृत्यु एक साल के अंदर हो जाती है जबकि ग़रीब बस्तियों में यह दर बढ़कर 54 हो जाती है। 75 प्रतिशत बच्चों को पेचिश है, 63 प्रतिशत कुपोषित हैं, 35 प्रतिशत ठिगने हैं, और 65 प्रतिशत को मां का दूध नसीब नहीं होता है। प्रति वर्ष मात्र 20 महिलाओं को ही जननी सुरक्षा योजना का लाभ मिल पाता है। हमारे नीति-निर्धारकों के बाज़ारू नज़रिये ने प्रिसिला के ही नहीं बल्कि दिल्ली की तमाम महिलाओं के सपनों को खोखला कर दिया है।

दुनु रॉय, *हैज़र्ड सेंटर के निदेशक हैं।*

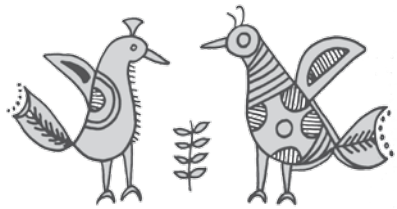

बाल-विवाह-एक अभिशाप

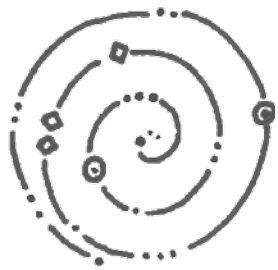

भारत सरकार द्वारा प्रस्तुत किए गये जनगणना आंकड़ों में एक बौखला देने वाला सच सामने आया है। इन आंकड़ों के अनुसार भारत में हर साल 102.61 करोड़ बच्चियों का विवाह अट्ठारह वर्ष की उम्र से पहले कर दिया जाता है। भारत में महिलाओं की आबादी कुल 587.58 करोड़ है। यानी देश की महिलाओं में से हर छठी औरत का बाल विवाह किया जाता है।

सन 2011 में राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड शाखा ने कुल 948 बाल विवाह के मामले दर्ज किए और इनमें से कुल 157 दोषी व्यक्तियों को सज़ा हुई। कहने का तात्पर्य यह है कि बाल विवाह क़ानून 2006 में संशोधन किये जाने के बावजूद भी कोई फ़ायदा नहीं हुआ है। पहले इस क़ानून के अनुसार दोषी व्यक्ति को तीन महीने की सज़ा या जुर्माना अदा करने की सज़ा दी जा सकती थी। अब सज़ा की अवधि दो वर्ष तक बढ़ा दी गई है। जुर्माने की रकम भी बढ़ाकर दो लाख तक कर दी गई है।

जनगणना के दौरान 37.62 करोड़ औरतों ने बताया कि उनकी शादी पिछले चार सालों में हुई है। इनमें से 17.23 प्रतिशत यानी 6.5 करोड़ औरतों की विवाह के समय उम्र अट्ठारह वर्ष से कम थी। बाल विवाह के सबसे ज़्यादा मामले राजस्थान (31.38 प्रतिशत), पश्चिम बंगाल (29.23 प्रतिशत), झारखंड (27.90 प्रतिशत), बिहार (22.99 प्रतिशत) व मध्य प्रदेश (22.49 प्रतिशत) में पाए गए।

कम उम्र में लड़कों को विवाह करने में राजस्थान (15.88 प्रतिशत - 26 करोड़), मध्य प्रदेश (11.45 प्रतिशत - 2.05 करोड़), छत्तीसगढ़ (9.74 प्रतिशत - 0.63 करोड़), उत्तर प्रदेश (9.56 प्रतिशत - 4.31करोड़) व हरियाणा (7.78 प्रतिशत - 0.50 करोड़) सबसे आगे पाए गये।

समाज में लड़कियों को बोझ समझने की मानसिकता तथा उनकी पढ़ाई पर पैसा न खर्च करने की चाह ही प्रमुख रूप से इस सामाजिक अपराध के लिए ज़िम्मेदार हैं। क़ानून के कार्यान्वयन में ढील भी काफ़ी हद तक इस अन्याय को प्रोत्साहन दे रही है।

स्रोतः इण्डियन एक्सप्रेस, 5 जून 2015

नोटः पासे पर 1 या 6 आने पर खेल शुरू करें। सांप के मुंह पर पहुंचने पर खाके में लिखा संदेश ज़ोर से पढ़ें। सीढ़ी चढ़ने पर भी संदेश

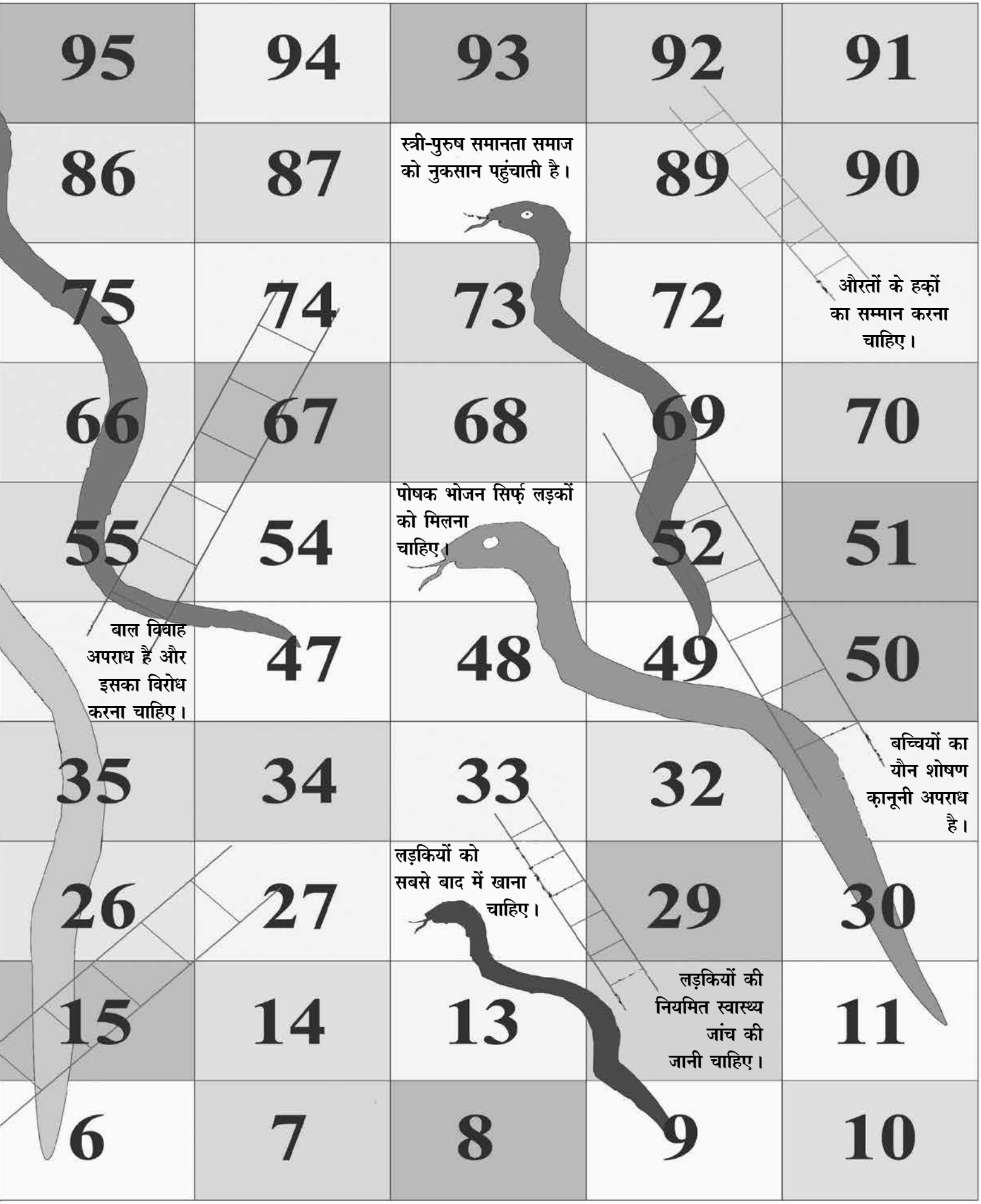

को ज़ोर से पढ़ें। आपस में चर्चा करें कि कौन सा संदेश आपके अनुसार महिलाओं और पुरुषों दोनों के लिए बेहतर है।

जनसंख्या नियंत्रण
कितनी आवश्यकता, कितनी राजनीति

संगीता मौर्य व ईशा सारस्वत

चतरा, झारखण्ड में टार्च की रोशनी में महिला नसबंदी (9 जनवरी, दैनिक जागरण); आज़मगढ़, उत्तर प्रदेश में टार्च और मोबाइल की रोशनी में नसबंदी (28 फ़रवरी, हिन्दुस्तान, वाराणसी); नसबंदी के 4 वर्ष बाद महिला गर्भवती (22 मार्च, हिन्दुस्तान, मिर्ज़ापुर); बंध्याकरण के बाद महिला की मृत्यु (29 मार्च, दैनिक जागरण, वाराणसी)।

उपरोक्त घटनाओं की ही तरह की कई अन्य घटनाएं पिछले 4-5 महीनों से अख़बारों के पन्नों पर कभी मुख्य पृष्ठ पर तो कभी कहीं किसी कोने में यदा-कदा अपनी जगह बना ही ले रही हैं। इस तरह की घटनाओं को प्रिन्ट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में जगह मिलने के पीछे भी बिलासपुर की घटना का बहुत बड़ा हाथ है। यदि बिलासपुर में 8 व 10 नवम्बर 2014 को हुए नसबंदी कैंप के बाद 13 स्वस्थ महिलाओं की मृत्यु न होती तो शायद ही ये घटनाएं प्रिन्ट व इलेक्ट्रॉनिक मीडिया की ख़बर बनतीं।

शायद बहुत सारे लोगों ने इस तरह की घटनाओं के बारे में पहली बार सुना होगा। पर क्या इस तरह की घटनाएं पहली बार हो रही हैं। बिल्कुल भी नहीं। इस तरह की घटनाएं होती रहती हैं, पर चूंकि बिलासपुर की तरह 13 स्वस्थ महिलाओं के एक साथ एक-दो दिनों के अन्दर मरने की घटनाएं रोज़ नहीं होती हैं, इसलिए वे ख़बरें मीडिया को आकर्षित नहीं कर पाती हैं।

यदि हम पिछले 30 सालों का जनसंख्या नियंत्रण के आंकड़ें देखें तो यह बिल्कुल स्पष्ट है कि जनसंख्या नियंत्रण के नाम पर भारत में 95-97 प्रतिशत महिला नसबंदी होती है (स्रोत: एच.एम.आई.एस. पोर्टल, भारत में स्वास्थ्य और परिवार कल्याण के आंकड़े, 2013)। सरकार द्वारा बाकायदा महिला नसबंदी को बढ़ाने के लिए पूरी ताक़त से प्रचार-प्रसार किया जाता है। हॉलांकि भारत ने जनसंख्या और विकास के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन 1994 में ही यह वादा किया था कि जनसंख्या नियंत्रण दृष्टिकोण के बजाय गर्भ निरोधन में पुरुषों की ज़िम्मेदारियों पर और किशोरों की ख़ास ज़रूरतों पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। राष्ट्रीय जनसंख्या नीति 2000 के माध्यम से भी सरकार ने एक भयमुक्त, लक्ष्यमुक्त प्रक्रिया को अपनाने की बात कही है।

परन्तु आई.सी.पी.डी. 1994 में किए गए वादे के 24 वर्ष और राष्ट्रीय जनसंख्या नीति 2000 के 14 वर्ष पूरे होने के बावजूद भी सरकार के रवैये में कोई बदलाव नहीं आया है। बिलासपुर नसबंदी कैंप की भयावह घटना इसका जीता-जागता उदाहरण है। आज भी गर्भनिरोध कार्यक्रमों में पुरुषों की भूमिका नाम मात्र है। यह जानते हुए भी कि पुरुष नसबंदी महिला नसबंदी से कई गुणा सुरक्षित एवं आसान है। आज भी महिलाओं को ही लक्ष्ययुक्त कार्यक्रम का निशाना बनाया जा रहा है।

शारदा की कहानी

शारदा (बदला नाम) का नसबंदी ऑपरेशन मुज़फ्फरनगर कैम्प के दौरान हुआ था। इन्जेक्शन लगाकर ऑपरेशन के लिए उसे बेड पर लिटाया गया। ऑपरेशन के दौरान शारदा ने डॉक्टरों को आपस

में चर्चा करते हुए सुना कि उसकी नस ही नहीं मिल रही है। जैसे-तैसे ऑपरेशन हो गया। ऑपरेशन के बाद शारदा ने कपड़े खुद ही पहने। पी.एच.सी. से शारदा को घर पर एम्बुलेंस से वापस भेजा गया। 12:50 पर शारदा का ऑपरेशन हुआ और पांच बजे शारदा अपने घर पर थी।

नसबंदी के बारे में सही जानकारी न होने के कारण ऑपरेशन के आठ दिन बाद ही उसके पति ने यौन सम्बन्ध बनाने के लिए कहा। मना करने के बाद भी शारदा के पति ने ज़बरदस्ती सम्बन्ध बनाया।

उसके अगले दिन ही शारदा को लगा कि उसका टांका टूट गया है क्योंकि उसे दर्द होने लगा। जब वह टांका कटवाने के लिए पुरकाजी पी.एच.सी. पर गई तो जो कम्पाउंडर चोट पर पट्टी करता है उसने ही टांके काटे। शारदा को कोई अन्य दवा नहीं दी गई। जब शारदा के टांके कटे तो टांकों से खून व मवाद निकल रहा था। आशा ने ज़बरदस्ती शारदा से उस टांके काटने वाले को पचास रुपये भी दिलवाये।

अभी भी शारदा की तबियत ठीक नहीं रहती है और टांके वाली जगह पर दर्द रहता है।

एक ओर जहां इस तरह लक्ष्य आधारित कार्यक्रमों के साथ कैंपों के माध्यम से महिला नसबंदी भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14 (समानता का अधिकार), अनुच्छेद 21 (सम्मानपूर्वक जीवन जीने का अधिकार) का हनन करता है वहीं दूसरी ओर यह महिला के यौनिक व प्रजनन संबंधी अधिकारों का भी हनन है।

आज वर्तमान में जब भारत की 50 प्रतिशत से ज़्यादा जनसंख्या 25 वर्ष के उम्र की है और 65 प्रतिशत से ज़्यादा जनसंख्या 35 वर्ष से कम उम्र की है, ऐसे में केवल नसबंदी को गर्भनिरोध के माध्यम की तरह प्रचलित करना कितना प्रासंगिक है यह सोचनीय विषय है। युवा आबादी के समक्ष 'बास्केट ऑफ़ च्वाइस' (निरोध, ओरल पिल्स, आई.यू.डी.) के कॉन्सेप्ट पर ध्यान देने की ज़रूरत है। इसके साथ यौनिकता शिक्षा, शादी की सही उम्र तथा पहले गर्भधारण का सही समय और दो बच्चों के बीच उचित अन्तराल की जानकारी देना भी आवश्यक है। साथ ही साथ गर्भनिरोध के उपलब्ध इन वर्तमान साधनों (निरोध, ओरल पिल्स, आई.यू.डी.) के प्रचार-प्रसार, उपलब्धता पर ज़्यादा केन्द्रित होकर काम करने की ज़रूरत है।

आज भी ज़रूरी है कि समाज महिलाओं को दोयम दर्जा का नागरिक समझने और बच्चे पैदा करने वाली मशीन समझने जैसी घृणित मानसिकता से बाहर निकले। सम्मान, निजता एवं शारीरिक अखण्डता के महिलाओं के अधिकार सुनिश्चित हों और यौनिक एवं प्रजनन स्वास्थ्य के संदर्भ में महिलाओं के जानकारीयुक्त निर्णय के साथ कोई समझौता न किया जाये। परिवार नियोजन कार्यक्रम पर पुनर्विचार करके "जनसंख्या नियंत्रण" जैसे विपरीत दृष्टिकोण वाली नीतियों को समाप्त करना भी बेहद ज़रूरी है। वैवाहिक स्थिति, उम्र, जेंडर आदि पर बिना ध्यान दिये सभी के लिए गर्भ निरोधक सेवाओं की उपलब्धता, पहुंच और गुणवत्ता सुनिश्चित की जाये। साथ ही यह भी सुनिश्चित करने की आवश्यकता है कि ज़रूरतमंद खुद तय करे कि उसे गर्भनिरोध के कौन से साधन का उपयोग करना है।

संगीता मौर्य *व* ***ईशा सारस्वत,***
सहयोग संस्था के साथ कार्यरत हैं।

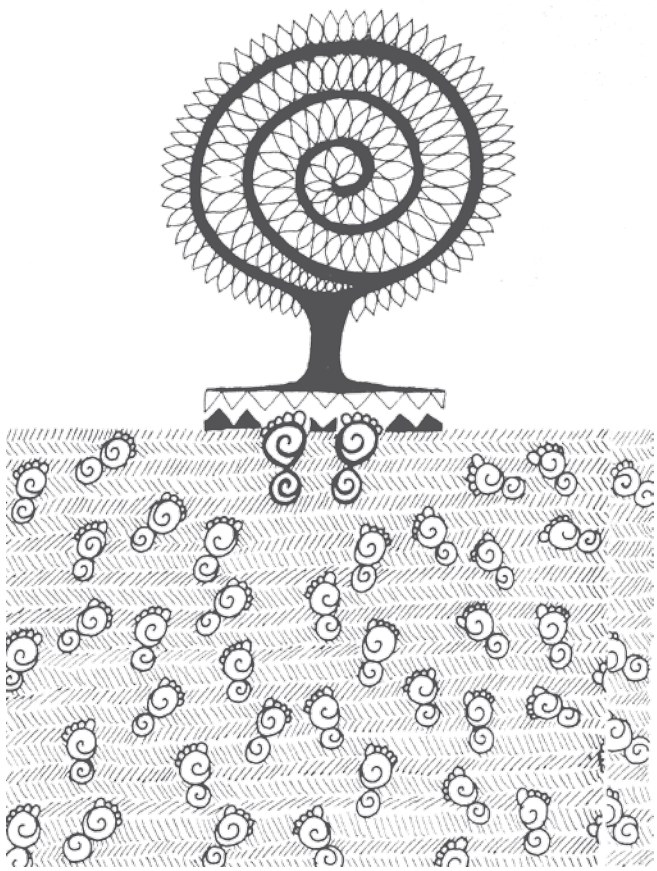

चौपाल

रजोनिवृत्ति कोई हौवा तो नहीं

जुही जैन

माहवारी औरतों के जीवन में एक बेहद अहम भूमिका निभाती है। यह लड़की की उर्वरता यानी बच्चे पैदा करने की क्षमता की सूचक है। मासिक धर्म शुरू होने पर एक लड़की के शरीर और मन में अनेक बदलाव आते हैं जो उसके जीवन पर अच्छे और बुरे असर डालते हैं। कुछ इसी तरह के परिवर्तन हमारी उम्र ढलने यानी 45 वर्ष की आयु के बाद दिखाई देते हैं। शरीर और मन में उम्र के इस पड़ाव पर होने वाले ये बदलाव रजोनिवृत्ति यानी माहवारी बंद होने की सूचना देते हैं। मासिक धर्म बंद होने का अर्थ होता है कि अब औरत के शरीर में बच्चा पैदा करने की क्षमता खत्म हो चुकी है। पर ये कोई दुख्खी या असंतुष्ट होने वाली बात नहीं होती। न ही इसके मायने यह होते हैं कि अब हम एक सबल औरत नहीं रह गई हैं। माहवारी और रजोनिवृत्ति दोनों ही शरीर की एक प्राकृतिक प्रक्रिया है।

रजोनिवृत्ति के लिए एक नियत उम्र या लक्षण तय नहीं होते। कुछ औरतों में माहवारी जल्दी बंद हो जाती है और कुछ में यह थोड़ी देर से होती है। बंद होने का सीधा संबंध तंदरुस्ती, स्वास्थ्य, जीवनशैली, खान-पान आदि से जुड़ा है। व्यापक तौर पर अगर देखें तो रजोनिवृत्ति के लक्षण 45 वर्ष से लेकर 54 वर्ष की सीमा के बीच उभरते हैं।

हर औरत के शरीर की रचना अलग होती है, लिहाज़ा रजोनिवृत्ति के लक्षणों में भी विविधता होती है। पर ज़्यादातर औरतों को सरदर्द, थकान, अनमनापन जैसी तकलीफ़ों का सामना करना पड़ता है।

अधिकांश औरतों में निम्न लक्षण देखे जा सकते हैं।
(उम्र वर्ग 45-54 वर्ष)

चिड़चिड़ापन	92%	नींद न आना	51%
आलस्य	88%	जोड़ों का दर्द	48%
अनमनापन	78%	रोना आना	42%
पसीना आना	75%	कब्ज़	37%
सरदर्द	71%	यौन इच्छा की कमी	20%
भूलना	64%	घबराहट	44%
वज़न बढ़ना	61%	पेशाब में जलन	20%

रजोनिवृत्ति के दौरान हमारे शरीर में 'एस्ट्रोजिन' हारमोन की कमी हो जाती है। इस हारमोन के कम होने से लम्बे दौर में खून में पाए जाने वाले 'लिपोप्रोटीन' की मात्रा में कमी, हड्डियों के घनत्व में कमी, जोड़ों और कनेक्टिव टिशुओं की कमज़ोरी जिसके कारण शरीर में दुर्बलता का अहसास होता है, जैसे लक्षण हो सकते हैं।

वैसोमोटर संबंधी लक्षण यानी नसों, मांसपेशियों संबंधी लक्षण

रजोनिवृत्ति का सबसे आम लक्षण है गर्मी लगना, पसीना आना या रात के समय बेहद गर्मी महसूस होना। लगभग 75 प्रतिशत औरतों को रजोनिवृत्ति के समय अधिक गर्मी लगती है। ऐसा उन औरतों में अत्याधिक होता है जिनका मासिक धर्म किसी सर्जरी या रेडियो थेरेपी के कारण बंद हो गया हो। यह लक्षण क़रीब एक साल तक चलता है जबकि 25 प्रतिशत औरतों में ये लक्षण पांच वर्षों तक भी मौजूद रह सकता है। गर्मी के ये थपेड़े जिन्हें 'हॉट फ़्लश' के नाम से जाना जाता है तनाव, घर के काम, शरीर

के तापमान में बढ़ोत्तरी, आलस्य, नींद न आना और हर समय थकान महसूस करने जैसी समस्याओं के साथ जुड़े हो सकते हैं।

योनि संबंधी बदलाव

'एसट्रोजिन' स्त्री शरीर में पाया जाने वाला प्रमुख हारमोन है जो हमारी प्रजनन प्रक्रियाओं से जुड़ा है। इस हारमोन की कम पैदावार के कारण रजोनिवृत्ति होती है और साथ ही इसकी मात्रा में कमी का सीधा प्रभाव यौन अंगों पर पड़ता है। 'एसट्रोजिन' की मात्रा कम होने से योनि के टिशु पतले होने लगते हैं और उनमें चिकनाई की कमी महसूस होती है जिससे संभोग में दर्द पैदा होने लगता है। इस हारमोन की कमी के कारण मूत्राशय और जननांगों में रक्त का संचार कम हो जाता है। ऐसे में पेशाब में जलन, बार-बार पेशाब आना, जनन पथ संक्रमण आदि जैसे प्रभाव हो सकते हैं।

मांसपेशियों, जोड़ों, बाल व त्वचा संबंधी बदलाव

रजोनिवृत्ति के दौरान मांसपेशियों और जोड़ों के दर्द की शिकायत हो सकती है। बालों, नाखूनों का टूटना या भुरभुरापन भी एक आम समस्या है। कनेक्टिव टिशु कमज़ोर होने की वजह से उम्र बढ़ने के साथ-साथ त्वचा का लचीलापन भी कम हो जाता है और रुखापन महसूस होने लगता है।

मनोवैज्ञानिक बदलाव

माहवारी का बंद हो जाना औरतों के मन पर गहरी छाप छोड़ता है। घबराहट, चिड़चिड़ाहट, अवसाद, बढ़ जाता है। कभी-कभी रोने का मन करता है। थकान, तनाव और अकेलापन घिरने लगता है। इसका कारण यह है कि 'एसट्रोजिन' हारमोन की मात्रा में कमी कुछ मानसिक प्रक्रियाओं की गति को धीमा कर देती है जिससे हमें भूलने की तकलीफ़ व अनमनापन महसूस होता है। अनेक महिलाओं को ऐसा भी लगता है कि प्रजनन की क्षमता खत्म हो जाने से उनके स्त्रीतत्व में कमी हो गई है। ऐसे में घबराहट और चिड़चिड़ाहट बढ़ जाती है क्योंकि हमें लगता है कि हम अपने शरीर पर नियंत्रण खोने लगे हैं।

हृदय संबंधी बदलाव

रजोनिवृत्ति से पहले उन औरतों को हृदय रोग संबंधी तकलीफ़ें कम होती हैं जिन्हें उच्च रक्तचाप, तनाव, डायबिटीज़ जैसी समस्याएं नहीं होतीं। परन्तु जैसे ही माहवारी बंद होती है वैसे ही हृदय रोग की संभावनाएं बढ़ जाती हैं। इसका कारण यह है कि मासिक धर्म होने के दौरान उच्च घनत्व वाले लिपोप्रोटीन में मौजूद अच्छे जीवाणु स्तर के कारण हृदय रोग से बचाव बना रहता है। माहवारी बंद होने पर कम घनत्व वाले लिपोप्रोटीन काफ़ी बढ़ जाते हैं जिससे हृदय रोग की संभावनाएं बढ़ जाती हैं।

हड्डियों की कमज़ोरी

रजोनिवृत्ति का गहरा असर औरतों की हड्डियों की सघनता पर पड़ता है। शुरू के पांच-सात सालों में हड्डियों की कमज़ोरी 50 प्रतिशत बढ़ जाती है। ज़्यादातर औरतों में 'आस्टिओपरोसिस' यानी हड्डियों की कमज़ोरी की समस्या देखने को मिलती है।

इन सब शारीरिक, मानसिक और मनोवैज्ञानिक बदलावों के बारे में जानकर हमें ऐसा लगता है जैसे रजोनिवृत्ति का हौवा हमारे ऊपर मंडरा रहा है। पर सबसे ज़्यादा ज़रूरी है कि हम इस प्राकृतिक बदलाव को अपने ऊपर हावी न होने दें। इसे जीवन का एक हिस्सा मानकर खुद को इससे जूझने, इसका सामना करने या यूं कहें इसका स्वागत करने के लिए तैयार करें।

एक स्वस्थ शरीर और स्वस्थ मन की मौजूदगी, परिवार का साथ और सहयोग हमारी ज़िंदगी के इस पड़ाव को आसान और सामान्य बनाने में मदद कर सकता है। ऐसा भी होता है कि हमारा परिवार माहवारी से जुड़ी इस प्रक्रिया को समझने और हमें ज़रूरी भावनात्मक सहयोग देने में असमर्थ रहे। पर अगर हम खुद अपने आप को इसके लिए सशक्त और तैयार करें तो जीवन का यह परिवर्तन भी हम आसानी से स्वीकार कर पाएंगे।

रजोनिवृतिः मेरी सोच, मेरा अनुभव

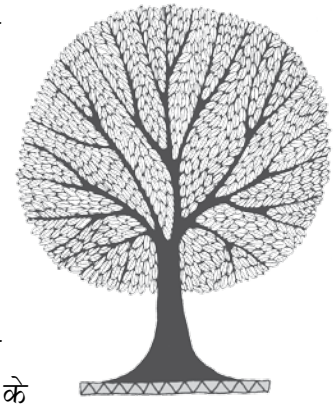

"रजोनिवृति के विषय में पहले से काफ़ी कुछ पढ़ा और सुना था। अपनी मां के अनुभवों की भी जानकारी थी। उन सबके आधार पर एक बात मेरे दिमाग़ में काफ़ी साफ़ थी कि मासिक धर्म कोई बीमारी नहीं बल्कि शरीर यात्रा की एक सामान्य प्राकृतिक प्रक्रिया है। जिस प्रकार उम्र के एक पड़ाव पर यह शुरू हुआ उसी तरह एक पड़ाव पर यह समाप्त भी हो जाएगा। जीवन के उस चरण को भी स्वस्थ तन और मन के साथ आनन्ददायी बनाया जा सकता है। रजोनिवृति से न मेरे नारीत्व में कोई कमी आएगी और न मेरे जीवन की सार्थकता में। शरीर में आने वाले बदलावों के लिए मैं हर प्रकार से तैयार रहने की कोशिश करूंगी और इसे अपने आप पर हावी नहीं होने दूंगी। इसी सोच के साथ आयु के 40वें दशक में क़दम रखा। दशक के मध्य के आसपास योनि में हल्की खुश्की तथा संभोग में पीड़ा का अहसास होने लगा लेकिन उसका उपचार सरल था। यौन संबंधों के प्रति कुछ अनिच्छा भी पैदा होने लगी परन्तु मैं इसे शारीरिक समस्या नहीं कहूंगी क्योंकि इसका बहुत कुछ संबंध उस उम्र की परिस्थितियों और आपसी रिश्तों से है। एक समझदार और सहानुभूतिपूर्ण साथी इसमें बड़ा मददगार हो सकता है।

कभी-कभी चेहरे पर अचानक गर्मी महसूस होना या पसीना आना भी एक लक्षण था लेकिन इसकी तीव्रता कभी तकलीफ़देय नहीं थी। बच्चे बड़े होकर घर से बाहर जा चुके थे लेकिन मैं उसके लिए तैयार थी। मैंने अपने लिए ख़ुशी पाने व अपने आपको व्यस्त रखने के अन्य कई रास्ते ढूंढ लिए थे। मैं पूर्ण रूप से सकारात्मक थी।

एक बड़ी उथल-पुथल

अगले कुछ वर्षों में मेरा वजन कुछ किलो बढ़ गया था जिसे मैंने मध्य आयु का लक्षण समझ कर ध्यान नहीं दिया। अचानक मेरे पिता का देहान्त हो गया जिसने मुझे भीतर तक हिला दिया। यही समय था जब मैं पचास की सीढ़ी को छू रही थी और लगा कि मेरी सारी सकारात्मक सोच एक झटके में धराशायी हो गई। मैं अवसाद के अंधे कुएं में गिर रही थी ओर बचाने वाले वाला कोई न था। अकारण रोने को जी चाहता। जीवन में कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा था। दिल्ली छूटने के साथ *जागोरी* का दफ़्तर, मेरी सहेलियां छूट गई थीं। समझ में नहीं आ रहा था कि यह सब क्यों हो रहा है क्या परिस्थितियां ज़िम्मेदार हैं या रजोनिवृति। शारीरिक ऊर्जा निम्नतम थी। हर समय थकान और सुस्ती महसूस होती। हालांकि मैं अपने आपको समझा रही थी कि समय के साथ यह सब ठीक हो जाएगा लेकिन वह एक वर्ष मेरे लिए बहुत लम्बा और कठिन था।

एक दिन मां को दिखाने उनके डॉक्टर के पास ले गई। अचानक उन्होंने मुझसे पूछा, "कभी आप ने थायरॉइड की जांच कराई है?"

"नहीं तो" मैंने कहा

"आपके गले पर हल्की सूजन दिखाई देती है। इस पर नज़र रखना।"

मैंने अगले ही दिन अपने ख़ून की जांच करवाई। रिपोर्ट से पता लगा कि मेरी थायरॉइड ग्रंथि पूरी तरह काम नहीं कर रही लिहाज़ा शरीर में थायरॉक्सिन नामक हारमोन की कमी है। यह हारमोन शरीर की हर प्रक्रिया को प्रभावित करता है। अगले ही दिन से थायरॉक्सिन की एक गोली लेनी शुरू कर दी।

एक महीने के भीतर मैंने अपने आप में आमूलचूल परिवर्तन पाया। मैं उदासी और अवसाद से बाहर निकल आई थी। शारीरिक ऊर्जा लौट आई थी। वे सभी तकलीफ़ें जिन्हें मैं रजोनिवृति के कारण समझ

रही थी दरअसल सुस्त थायरॉइड ग्रंथि के कारण थी। आवश्यक है कि इस उम्र में नियमित जांच होती रहे ताकि अन्य रोगों के लक्षणों को रजोनिवृति के लक्षण समझने की भूल न हो। पचास को पार कर रही थी। कभी-कभी मासिक धर्म का समय और रक्तस्राव की मात्रा गड़बड़ाने लगी थी। कभी अचानक समय से पहले मासिक धर्म शुरू हो जाता या रक्तस्राव में धक्के आने लगते। सोनोग्राफ़ी से मालूम हुआ अभी अंडाशय में छोटी-छोटी फ़ाइब्रॉयड गांठें भी दिखाई दीं।

डॉक्टर की सलाह थी कि चूंकि अब रजोनिवृति का समय निकट है किसी इलाज की आवश्यकता नहीं है। मासिक धर्म बंद होने और शरीर में एस्ट्रोजन का स्तर घटने पर फ़ाइब्रॉइड अपने आप सूख जाएंगे। मुझे एचआरटी अथवा हारमोन उपचार लेने की सलाह दी गई। जिससे हृदय और हड्डियों के रोगों की संभावना कम हो जाएगी लेकिन उससे जुड़े अन्य ख़तरे थे। मैं रजोनिवृति की प्राकृतिक प्रक्रिया को पूरी तरह से प्राकृतिक रखना चाहती थी। यह मेरा अपना निर्णय था। पिछले कुछ वर्षों से कैल्शियम की गोली लेनी आरम्भ कर दी थी। अब आहार और व्यायाम की ओर विशेष ध्यान देना आरम्भ कर दिया। घूमना मुझे सदा से पसंद था। योग में भी रुचि थी। अब इन्हें नियमित रूप से अपनाया। मन के स्वास्थ्य के लिए ध्यान का सहारा लिया। 52 वर्ष की आयु में मासिक धर्म पूरी तरह से बंद हो गया।

उम्र के साथ कुछ बदलाव ज़रूर आते हैं चाहे वे चेहरे की झुर्रियां हों या सिर के सफ़ेद बाल। कुछ सीमा तक घटती शारीरिक ऊर्जा हो या यौन इच्छा में कमी ये सभी जीवन यात्रा के पड़ाव हैं जिनका मैं खुले दिल से स्वागत करती हूं। आज 70 वर्ष पार करने के बाद भी मैं अपने आपको शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ पाती हूं।

अनेक दशक पूर्व मां की एक सलाह को मैंने गांठ बांध लिया था। वे कहती थीं, "अपनी सेहत की देखभाल हमेशा खुद करो, किसी और के भरोसे पर न रहो।" मैं यह मानती हूं कि जीवन के हर चरण में अपने स्वास्थ्य के प्रति सचेत और सक्रिय रहने की ज़रूरत है। रजोनिवृति के प्रति भी स्वस्थ व सकारात्मक सोच रखकर उस कठिन दौर से निपटा जा सकता है।"

वीणा शिवपुरी

फ़ैमिली प्लानिंग

कमला भसीन

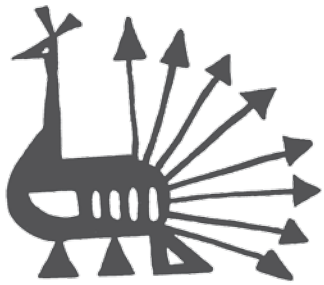

ये किसने मचाया हल्ला फ़ैमिली प्लानिंग का
हल्ला फ़ैमिली प्लानिंग का
जब हम मांगे रोटी—हां जी
देते पिल वो मोटी—हां जी
जब हम मांगें दवाइयां—हां जी
मिलते लूप और जैलियां—हां जी
फ़ैमिली प्लानिंग का हल्ला....

हमारी नज़र में फ़ैमिली प्लानिंग बहुत बड़ा षड्यन्त्र है
ग़रीबों को मारने, उन्हें सताने का ही ये तो मन्त्र है
फ़ैमिली प्लानिंग का हल्ला....

हमारे कितने बच्चे हों हम खुद ही तय करेंगे
हमारे निर्णय सरकार ले ये बिल्कुल नहीं सहेंगे
फ़ैमिली प्लानिंग का हल्ला....

फ़ैमिली प्लानिंग तब ही होगी जब होगी तरक्की
सब के पेट में रोटी होगी, नौकरी होगी पक्की
फ़ैमिली प्लानिंग का हल्ला....

कमला भसीन *नारीवादी लेखिका व कार्यकर्ता हैं।*

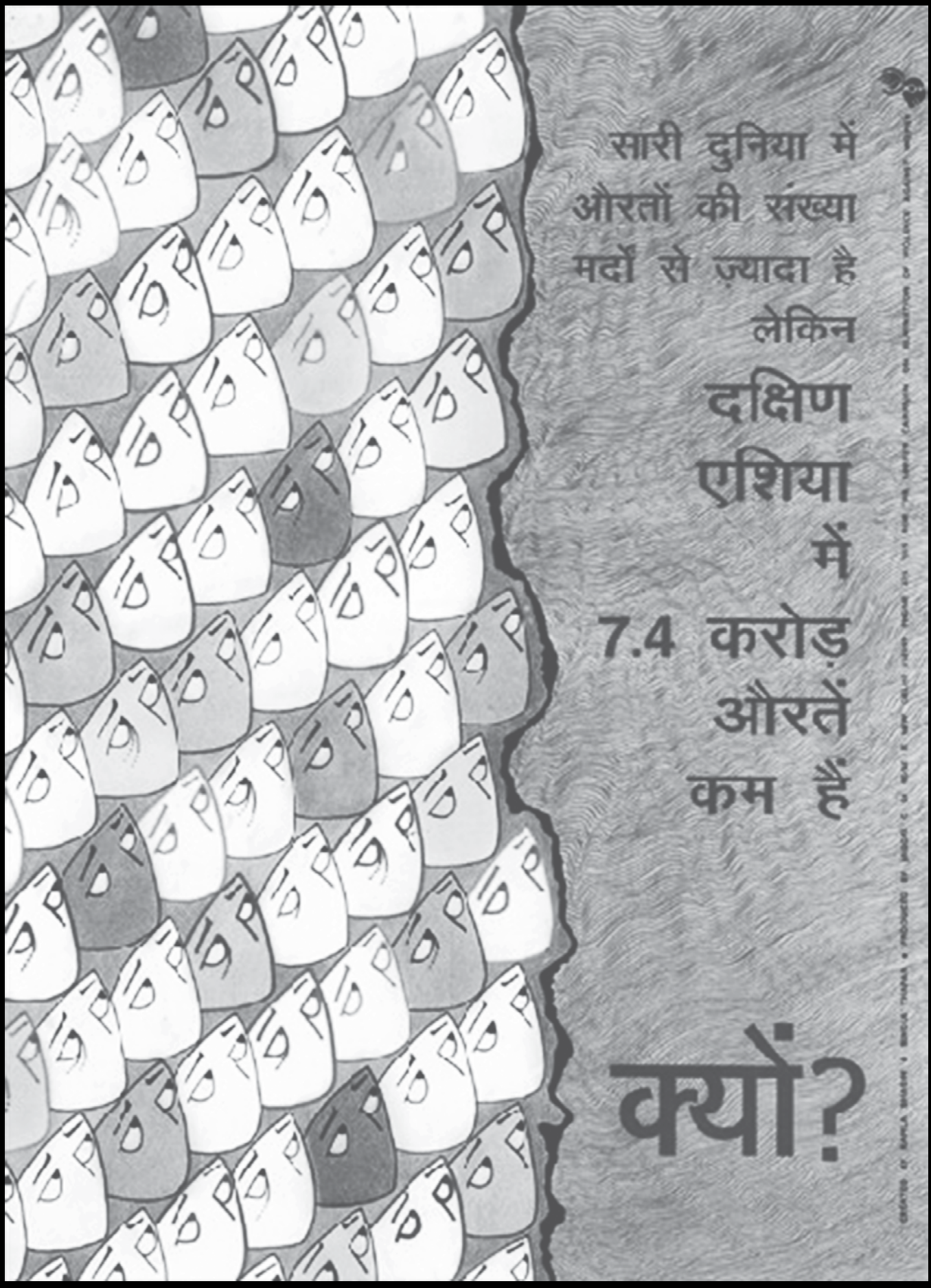

पोस्टरः जागोरी; शब्दः कमला भसीन; चित्रांकनः बिंदिया थापर

लेख

दाइयां : बुद्धिमती, कुशल और अमूल्य

वैद्य रिम्मता बाजपेई

भारत के अनेक ग्रामीण और आदिवासी क्षेत्रों में घर में बच्चा जनना संस्कृति का अंग है। दाई (यानी देने वाली) भारत की पारंपरिक प्रसाविका है जो इनमें से आधे से अधिक प्रसवों में मदद करती है। यह माना जा सकता है कि हर गांव में कम से कम एक दाई होती है जिसका मतलब हुआ कि भारत में छह लाख से ज़्यादा दाइयां हैं।

दाइयां जजमानी व्यवस्था का अंग हैं जो भारतीय समाज में कामों का पारंपरिक गठन था। आमतौर पर नाई, चमार, बुनकर जातियों की महिलाएं दाई की भूमिका अदा करती थीं। दाई आमतौर से दलित, अधेड़ और ग़रीब होती हैं। रीतिनुसार शुद्धता, प्रदूषण और पेशे पर आधारित जातियों की श्रेणीबद्धता में दलित सबसे निचली सीढ़ी पर हैं।

दाई के काम में प्रसव वेदना के दौरान महिला की मदद करना, बच्चा पैदा करवाना, प्लेसेंटा निकलवाना, नाल काटना, साफ़-सफ़ाई करना और कठिन प्रसव भी संभालना शामिल होता है। इतने महत्व का काम होने के बावजूद इसे पितृसत्तात्मक व्यवस्था में 'गंदा' और 'अशुद्ध' समझा जाता है। प्रसव की प्रक्रिया और प्रसूता को छूत की स्थिति माना जाता है इसलिए अक्सर ऐसी महिलाओं को अलग-अलग ऐसे स्थानों पर रखा जाता है जो अक्सर बहुत साफ़-सुथरे भी नहीं होते। इसी तरह दलित महिलाओं को उन परिश्रमी मज़दूरों में गिना जाता है जो अकुशल और प्रदूषित करने वाले काम करती हैं जो कि अछूतों को करने चाहिए।

गांव के भीतर हर जाति या बस्ती में अपनी दाई होती है जो अपनी ही जाति में काम करती है। राजपूतों और दरबारों जैसे ऊंची जातियों में परिवार की महिलाएं और वृद्ध रिश्तेदार दाइयों की जगह लेती हैं।

लगता तो है कि उनके कौशल और परोपकारिता के लिए दाइयों की इज़्ज़त की जाती होगी। लेकिन उसकी दबी-कुचली स्थिति के चलते जाति व्यवस्था में उम्मीद की जाती है कि सेवा करना उसका काम है और अक्सर इस काम को न तो वांछित मान्यता मिलती है न ही इसका कोई उचित इनाम मिलता है।

पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था में जहां व्यवसाय परंपरा से बाप से बेटे को दिए जाते हैं, पारंपरिक प्रसव कार्य मां से बेटी को दिया जाता है। दाई पारंपरिक चिकित्सक है जिसे प्रसव कराने का कौशल, जड़ी बूटियों, विधियों

दलित जाति दाई को नियमों का कठोर पालन करने को कहा जा सकता है; परिवार उससे कह सकते हैं कि महिला को छूने से पहले नहा ले। परिवार के अन्य सदस्य उसे छूने से बचते हैं।

और प्रक्रियाओं का ज्ञान होता है। आम तौर पर दाइयों का उन परिवारों से रिश्ता बना रहता है जिनकी वे सेवा करती हैं।

पारंपरिक दाई को सामान्यतः खुद ही कई बच्चे जनने का अनुभव होता है। वह प्रसव के दौरान महिला और नवजात शिशु की देख-रेख का काम कई सालों तक किसी वृद्ध रिश्तेदार को काम करते देखकर सीखती है। महिलाओं के साथ प्रसूति गृह और सार्वजनिक स्वास्थ्य केंद्रों में जाने पर कुछ दाइयां डॉक्टरों और नर्सों से भी सीखती हैं। महिलाओं के प्रति संवेदनशील प्रसव सेवाओं की घर में ज़रूरत को देखते हुए कुछ एनजीओ और कुछ राज्य सरकारों ने सीखने को उत्सुक और दाई का काम करने की इच्छुक गांव की महिलाओं, खासतौर से कुछ अनुभव प्राप्त दाइयों को, अलग-अलग तरह और विभिन्न स्तरों के प्रशिक्षण भी दिए हैं। यह 'प्रशिक्षित' दाइयां अपने पारंपरिक ज्ञान का इस्तेमाल कर भी सकती हैं और नहीं भी।

दाई की सबसे बड़ी विशेषता व उसके और संस्थागत स्वास्थ्य कर्मी के बीच अंतर यह है कि उपचारिका के रूप में वह अधिकांश महिलाओं को प्रेम और संवेदना प्रदान करती है। प्रसव के समय सहारा देने के पारंपरिक कौशल और जड़ी-बूटियों के इलाज का उसका ज्ञान महिलाओं को कई तरह से सहारा देता है। उसका ज्ञान और अनुभव बच्चा पैदा कराने तक सीमित नहीं होता, बल्कि महिलाओं के स्वास्थ्य के अनेक पक्षों को समेटे रहता है जैसे माहवारी की परेशानियां, गर्भाशय का अवतरण, जड़ी-बूटी से गर्भ निरोध, गर्भवती होने के उपाय, योनि से रिसाव आदि। इसके अलावा दाई कुशल हड्डी बिठाने वाली हो सकती है, बच्चे की देख-रेख की विशेषज्ञ हो सकती है और कई सामान्य रोगों और भावनात्मक समस्यों का उपचार कर सकती है।

दाई की योग्यताएंः सामान्य विवरण

दाइयां महिलाओं को खान-पान, काम और भावनाओं से संबंधित परामर्श भी देती हैं, भावनात्मक संबल भी देती हैं क्योंकि वे उस क्षेत्र के संस्कारों में रची-बसी होती हैं।

किस दिन बच्चे का जन्म हो सकता है इसकी गणना करने का दाइयों का अपना तरीक़ा होता है जो लक्षणों की पहचान और पेट के आकार की जांच करके पता लगाया जाता है। कुछ दाइयां काढ़ा पिलाकर जांच लेती हैं कि दर्द अपच का तो नहीं है; कुछ नाभि में तेल डालकर उसके बहाव की दिशा से अनुमान लगाती हैं कि बच्चे का सर किस तरफ़ है और गर्भाशय का आकार कैसा है जो उन्हें बताता है कि दर्द सचमुच प्रसव का है या नहीं और है तो किस हद तक पहुंचा है।

दाई अन्य अनुभवी महिलाओं और गर्भवती महिला की मदद से सामूहिक तौर पर प्रसव की पूरी प्रक्रिया का कुशलता से संचालन करती हैं। बच्चे को पैदा करवाने पर ध्यान केंद्रित करके वे गर्भवती स्त्री को प्रोत्साहित करती हैं और नैसर्गिक सहयोग देती हैं जिसके सहारे वह प्रसव पीड़ा की लहरों को झेलती और साहस, बल और स्वाभाविक रूप से बच्चे को जन्म देती हैं। दाई का काम होता है प्रसव को सरल और सुगम बनाना, उसे गति देना और सुरक्षित बनाना। वह प्रसव के स्थान को भी तैयार करती है जो घर के भीतर रसोई के चूल्हे के पास भी हो सकता है। परिवार की रीत के अनुसार

कुछ लोग गंदे, अंधियारे गोशाला में भी बच्चे पैदा करवाते हैं। नाल काटने, उस पर लेप लगाने और बांधने आदि के सामान तैयार रखने के अलावा लोग मालिश के लिए तेल, जड़ी-बूटियां और विधियों की सामग्री भी उपलब्ध कराते हैं।

प्रसव और जन्म को आसान बनाने के लिए दाइयां खास पथ्य, जड़ी बूटियां और क्रियाएं भी सुझाती हैं। जीरा, लौंग, गुड़, अजवाइन, सोंठ, हल्दी, जायफल, काली मिर्च, सहजन की फली आदि के काढ़े दिए जाते हैं जो हाज़मा ठीक रखते हैं। ज़्यादातर जो पथ्य सुझाए जाते हैं वे द्रव्य होते हैं, लचक और चिकनाई पैदा करते हैं, प्रसव के दौरान महिला को ऊर्जा प्रदान करते हैं।

दाइयों (और महिलाओं) के लिए बच्चे का जन्म केवल शारीरिक प्रक्रिया नहीं है बल्कि महिलाओं की धार्मिक और सांस्कृतिक विचारधारा की बुनावट का हिस्सा है। विधियों में आस्था रखने वाली दाई महिलाओं को संबल देने के लिए कई उपाय अपनाती हैं। अलग-अलग क्षेत्रों में उपाय अलग होते हैं मगर उंगली, हाथ, कमर, बालों में तागा बांधना; भगवान को प्रसाद चढ़ाना, जन्मदात्री देवी की पूजा करना, इनमें शामिल हैं। यह आम धारणा है कि कुछ देवियां बच्चे के जन्म को आसान बनाती हैं और प्रसव से पहले इनका आशीर्वाद लिया जाता है। इन देवियों से ऊर्जा प्राप्त करने के लिए दाइयां कई प्रकार की उपासना करती हैं, कई प्रतीकात्मक तरीक़े अपनाती हैं। दाई महिला से बाल खुले रखने, अलमारियों के ताले और ट्रंक खोलकर रखने को कह सकती हैं। यह विधियां प्रजनन के मार्ग खोलने और शिशु को माता से अलग करने का प्रतीक होते हैं।

हर राज्य में दर्द से पीड़ित महिला को आराम पहुंचाने के लिए दाइयां तेल मालिश का उपयोग करती हैं। बच्चे की गर्भ में स्थिति पता लगाने, प्रसव वेदना की तीव्रता बढ़ाने में तो मालिश काम आती ही है, इससे दर्द और तनाव घटता है और प्रसव की गति बढ़ती है। स्पर्श, मालिश, पीठ को सहला देना यह सब संवेदनशील सहयोग का अंग हैं जो प्रशिक्षित नर्सों या डॉक्टरों से भी संस्थानों में प्रसव कराने वाली महिलाओं को नहीं मिलता। दाइयां प्रसव को सुगम बनाने के लिए महिला को सिर्फ़

पीठ के बल लेटने को नहीं कहतीं बल्कि करवट से लेटने, उकड़ूं बैठने, पैर फैला कर बैठने आदि तरह-तरह के उपाय सुझाती हैं। प्रसव के विभिन्न चरणों के अनुसार यह आसन बदलते हैं। साथ ही दाई धीरे-धीरे प्रसूता की मालिश करती रहती हैं, उसका दर्द निवारण करती, थकान मिटाती है। वह उससे बातें करती है, उसको हिम्मत बंधाती है और उसके साथ पूरी प्रक्रिया में मेहनत करती है। गुप्तांगों में तेल लगाने और उन्हें धुंआ दिखाने का उपाय भी कई दाइयां अपनाती हैं जो प्रसव मार्ग को चिकना करके राहत पहुंचाता है।

अपने काम के प्रति उनका अपना नज़रिया

अधिकांश दाइयों के लिए महिला की प्रसव में मदद करना मानवता का काम है जिससे उसे संतोष और गर्व होता है। कुछ के लिए यह तथ्य ही महत्वपूर्ण है कि बच्चे को मां के गर्भ से अलग करने की पीड़ादायक प्रक्रिया में वे मदद करती हैं।

अधिकांश दाइयां प्रसव और जनन के महत्व को समझती हैं और महिला और अपने काम को नवजात के प्राण बचाने वाला काम मानती हैं। ज़्यादातर दाइयां इस काम को कर्तव्य और सामाजिक ज़िम्मेदारी मानती हैं। शायद इसीलिए उनके काम में बहुत प्रतिबद्धता और ईमानदारी दिखाई देती है।

उनके काम के प्रति परिवार का नज़रिया

ज़्यादातर परिवार दाई के काम में हाथ बंटाते हैं। कुछ के घरवाले रात में या उबड़-खाबड़ जगहों पर उन्हें काम के

स्थान तक छोड़ने के लिए साथ जाते हैं। कुछ को अपना काम खुद करना पड़ता है।

लेकिन 'कौशल रखने वाली महिला' के रूप में उसकी क़ीमत कम ही होती है, उसे मान्यता कम ही मिलती है। विश्व स्तर पर प्रसव में कुशल सहयोगी की उपस्थिति और कारगर क्रियान्वयन के लिए संस्थानिक समर्थन की वकालत की जा रही है।

दाई को किसी भी दूसरी महिला की तरह समझा जाता है, उसे महिलाओं से अपेक्षित तमाम सामाजिक भूमिकाएं अदा करनी पड़ती हैं, ज़िम्मेदारियां निभानी पड़ती हैं, घर के बाहर और भीतर काम करते हुए परिवार और समाज के सारे नियमों का पालन करना पड़ता है। जिन परिवारों में शिक्षा और आमदनी के स्तर सुधरे हैं उनमें उसकी प्रतिभा की उपेक्षा की जाती है और अक्सर दबाव भी डाला जाता है कि परिवार की इज़्ज़त की ख़ातिर यह काम छोड़ दे।

दाई आंदोलन

दाई आंदोलन का केंद्र गुजरात में है। 1990 के दशक के आरंभ में नागरी संस्थान दाइयों के योगदान को मान्यता देने की वकालत के लिए एकजुट हुए। जो मांगें रखी गई उनमें राज्य द्वारा दाइयों को मिलने वाले मेहनताने को बढ़ाना, एक बार इस्तेमाल करके फेंकने वाले उपकरणों की आपूर्ति आदि शामिल थीं। बाद में दाइयों को संगठित करने और सहकारी संघ और अन्य संगठन बनाने की कोशिशें अन्य राज्यों में उभरीं। 2000 में दाइयों की मान्यता खारिज करने की नीति बनी तो गुजरात में दाई आंदोलन ने जो मुद्दे उठाए वे क्षमता वृद्धि में निवेश, दाइयों के लिए मेहनताने की मांग, लगभग स्वास्थ्य सेवा रहित क्षेत्रों में उनके कौशल और योगदान को मान्यता देने से संबंधित थे।

आगे की राह

जिस देश में जाति, पितृसत्ता और वर्ग मिलकर कुछ लोगों को बहिष्कृत रखने की सामाजिक संरचना को बनाते हैं उसमें जो भी योजना सबको शामिल करने का प्रस्ताव करे उसे पारंपरिक सेवाओं के मूल्य को मान्यता देनी होगी। दाइयों (जिनमें अधिकांश दलित हैं) के पास भारत में इतिहास के इस मोड़ पर कई लाभ हैं जबकि सेवाएं न सिर्फ़ ग्रामीण और शहर में विभाजित हैं बल्कि उनकी गुणवत्ता में विषमता और विभिन्नता है। अति ग़रीबों के लिए दाइयां महत्वपूर्ण हैं क्योंकि महंगी सेवाओं तक महिलाओं की पहुंच नहीं है। वे आसानी से उपलब्ध होती हैं, उन तक पहुंचना ग्रामीण ग़रीबों के लिए आसान है, वे उनकी ज़रूरतों को पूरा करने में सक्षम होती हैं।

दाइयों के लिए परंपरागत कौशल सिर्फ़ जीविकोपार्जन का साधन नहीं बल्कि ऐसा काम है जिस पर उन्हें गर्व है। फिर भी उन्हें इस आजीविका से वंचित किया जा रहा है।

इस संकट का समाधान इस तथ्य को मानने में है कि दाइयां जान बचा सकती हैं, सुरक्षित प्रजनन करवा सकती हैं, औपचारिक सेवाओं के ढांचे का आधार है और इस तरह दाइयों की आजीविका को बनाए रखा जाए। इसका समाधान इनके सकारात्मक कौशल के संरक्षण में और गर्भवती महिलाओं, उनके परिवारों की मूल उपचारिका तथा औपचारिक व्यवस्था के साथ उनका संबंध स्थापित करने वाली कड़ी के रूप में उनके दर्जे को सुदृढ़ करने से भी हो सकता है। इसके लिए उन्हें मेहनताना और मूल उपकरण और सामग्री देनी होगी। इससे जाति-लिंग का वह फंदा काटने में भी मदद मिलेगी जिसमें दाइयां फंसी हुई हैं।

वैद्य स्मिता बाजपेई *दाई संघ गुजरात और चेतना अहमदाबाद के साथ काम करती हैं।*

यह लेख— स्मिता बाजपेई के मूल लेखः दलित महिलाओं का स्वास्थ्य एवं अधिकार-जागृति की एक झलकः सम्पादित डॉ. इमराना क़दीर का सम्पादित अंश है।

"स्वच्छ" अभियान
रोज़गार से जुड़े ख़तरों का समाधान

हाल ही में किए एक सर्वे से पता चला है कि हमारे देश की कुल 12% महिलाएं माहवारी के दौरान सेनिटरी नैपकिन का इस्तेमाल करती हैं। देश की जनसंख्या के अनुपात में देखें तो इसके मायने हैं कि हर महीने 36 करोड़ औरतें इन सेनिटरी नैपकिनों को इस्तेमाल कर रही हैं। हमारी सरकार कम कीमत पर मिलने वाले नैपकिन बनाने की योजना पर विचार कर रही है। इससे औरतों को माहवारी के दिनों में स्वस्थ और साफ़ नैपकिन मिल पाएंगे जो लम्बे दौर में उनके स्वास्थ्य के लिए फायदेमंद है। पर विडम्बना यह है कि कूड़े में फेंके जाने वाले गंदे और इस्तेमाल किए गये नैपकिन कचरा बीनने वाली महिलाओं के स्वास्थ्य पर अपना बुरा प्रभाव डालते हैं। यह एक ऐसी समस्या है जिसकी तरफ़ किसी का भी कोई ध्यान नहीं जाता।

अगर हम 15 वर्ष से 54 वर्ष के बीच की महिलाओं की बात करें तो हर महीने हमें 432 करोड़ गंदे सेनिटरी नैपकिनों के सुरक्षित निपटान की व्यवस्था करनी होगी। अक्सर देखा गया है कि महिलाएं गंदे पैड अखबार में लपेटकर कूड़े या खुले मैदानों में फेंक देती हैं। कई बार पैड को शौचालय में भी फ्लश कर दिया जाता है जिससे सीवर लाइने ब्लॉक हो जाती है।

हमारे देश में माहवारी के दौरान ज़्यादातर औरतें कपड़ा इस्तेमाल करती हैं। कुछ औरतों पारम्परिक तरीक़े जैसे लकड़ी का बुरादा या नरम पत्तों के रेशों की घास भी उपयोग करती हैं। इनमें से कई साधन तकलीफ़देय और स्वास्थ्य के नज़रिए से हानिकारक भी साबित होते हैं। इन ख़तरों को देखते हुए सरकार ने कम क़ीमत वाले पैड बनाने के प्रयासों पर ज़ोर दिया है। पर इसके साथ-साथ हमें उन लोगों के स्वास्थ्य और सफ़ाई का भी ध्यान रखना होगा जो इस कचरे को उठाने का काम करते हैं। हमारे लिए माहवारी में सुरक्षा और सफ़ाई के अलावा इन सेनिटरी पैड को ठीक तरह फेंकने का मुद्दा भी अहम होना चाहिए। पुणे में कचरा बीनने का काम करने वालों का एक सहकारी समूह "स्वच्छ" इस समस्या को संबोधित करने के लिए एक आसान और कम कीमत वाला 'एसटी बैग' तैयार किया है जिसके उपयोग से रोज़गार संबंधी इस स्वास्थ्य समस्या का समाधान पाया जा सकता है।

कुछ समूहों जिनमें महिला व विकास समूह भी शामिल हैं का मानना है कि सुरक्षित माहवारी व स्वास्थ्य समस्याओं से निपटने के लिए औरतों को सेनिटरी पैड का उपयोग करना चाहिए। ग्रामीण क्षेत्रों में अनेक स्वयंसवी संगठन नर्म सस्ते कपड़े के और आरामदायक पैड का प्रचार कर रहे हैं।

इन सैनिटरी नैपकिनों को धोया जा सकता है जिससे ये पर्यावरण पर नुकसानदायक असर नहीं डालते। इनकी तुलना में प्लास्टिक या फाइबर से बनाए जाने वाले पैड पर्यावरण को अधिक नुकसान पहुंचाते हैं। परन्तु समस्या यह है कि कपड़े से बने पैड को धोने के लिए साबुन पानी

ज़रूरी है जो अक्सर आसानी से नहीं मिल पाता। सार्वजनिक नलों पर भी औरतें इन्हें धो नहीं सकतीं। संक्रमण से बचने के लिए इन्हें धूप में सुखाना भी बेहद ज़रूरी होता है। इन सभी समस्याओं को देखते हुए ज़्यादातर महिलाएं बाज़ार में बिकने वाले पैड का ही इस्तेमाल करती हैं।

पुणे में कार्यरत *स्वच्छ* संगठन की जानकारी के अनुसार कचरा बीनने वाला समूह पहले से ही स्वास्थ्य के नज़रिए से अरक्षित होता है। *विश्व स्वास्थ्य संगठन* ने मुंबई के एक खुले कूड़े यार्ड सर्वे से यह साबित हो चुका है कि वहां काम करने वाले कर्मचारियों में से 80% को आंखों की बीमारी, 73% को सांस की तकलीफ़, 51% को पेट संबंधी समस्या व 40% को चर्म रोग है।

इसी तरह कोलकाता में काम करने वाले कचरा कर्मचारियों में 32% को किसी न किसी रूप में संक्रमित पाया गया है। सर्वे से यह भी स्पष्ट हुआ है कि कचरा छांटते समय अक्सर इन कर्मचारियों के हाथे कूड़े में मौजूद कांच या धातु की पैनी चीज़ों से कट जाते हैं। इन खुले जख़्मों से गंदे पैड उठाने से संक्रमण का खतरा दुगना हो जाता है। शोध से यह भी पता चला है कि हैपिटाइटिस ए और बी के कीटाणु खून से भरी चीज़ों में काफ़ी लम्बे समय तक पनप सकते हैं और कटी-फटी खाल के ज़रिए शरीर में प्रवेश कर सकते हैं।

स्वच्छ सहकारी संगठन ने इन सभी समस्याओं के निदान के लिए पुराने अखबार से 'एसटी बैग' बनाये हैं। एक रुपये प्रति बैग की कीमत पर मिलने वाला इस लिफ़ाफ़े पर एक खास निशान भी है जिससे इसे कूड़े के ढेर में आसानी से पहचाना जा सके। इन लिफ़ाफ़ों को *स्वच्छ* समूह की बुजुर्ग कचरा बीनने वाली महिलाएं पुणे शहर में बेचती हैं। कर्मचारियों का मानना है कि इस लिफ़ाफ़े में बंद करके गंदे पैड फेंकने से वे उसे अलग से एक जगह छांट कर इकट्ठा कर सकती हैं जिससे उनके स्वास्थ्य पर होने वाले दुष्प्रभाव काफ़ी हद तक कम किए जा सकते हैं।

इन लिफ़ाफ़ों को बेचने के लिए *स्वच्छ* ने एक कमीशन आधारित अभियान भी चलाया है। इस कार्यक्रम के तहत महीने के लगभग दस हज़ार लिफ़ाफ़े बेचे जाते हैं।

पुणे की एक नागरिक का कहना है कि स्वच्छ बैग के इस्तेमाल से उन्हें घर के कूड़े में पैड फेंकने में आसानी होती है। उन्हें इस बात की ग्लानि भी नहीं होती कि किसी दूसरी महिला को उस गंदे पैड को अपने हाथों से उठाना पड़ता है। दूसरी और *स्वच्छ* में काम करने वाली औरतों का मानना है कि संक्रमण और बीमारी से बचने के साथ-साथ

कुछ कड़वी सच्चाइयां

***गूंज संस्था* के आंकड़ों से कुछ कड़वी सच्चाईयां उजागर होती हैं। भारत में ज़्यादातर औरतों के पास माहवारी में इस्तेमाल करने के लिए साफ़ कपड़ा नहीं होता। इसलिए ग़रीब तबकों की औरतें गंदे, चिथड़े तक माहवारी के दौरान इस्तेमाल करती हैं। राजस्थान के कुछ इलाकों में राख, मिट्टी इस्तेमाल की जाती है। उत्तरांचल व बिहार के दुर्गम इलाकों में अनेक बार माहवारी में कुछ भी इस्तेमाल नहीं करती। बंगाल के सुन्दरवन क्षेत्र में औरतें एक कपड़े को साल-दो साल इस्तेमाल करती हैं।**

माहवारी के दौरान सफ़ाई, साधन, शौचालयों की कमी या गैर मौजूदगी के कारण बड़ी संख्या में किशोरियां पढ़ाई छोड़ देती हैं।

इन सब कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए *गूंज* ने साफ़, पुराने कपड़ों से पैड बनाने की अगुवाई की है। *गूंज* के कार्यकर्ता शहरी व ग्रामीण इलाकों से इस्तेमाल किए हुए कपड़े जैसी चादर, दुपट्टा, तौलिया, साड़ी इकट्ठा करते है। इन कपड़ों को पैड में तब्दील किया जाता है। *गूंज* का यह कार्यक्रम भारत के 21 राज्यों के दूर-दराज़ गांवों में चल रहा है।

उन्हें गरिमा के साथ काम करने का भी अहसास होता है। वे कहती हैं, 'हम भी इंसान है किसी दूसरे की गंदगी छूने में हमें भी तकलीफ़ होती है'।

आजकल बाज़ार में बिकने वाले सेनिटरी नैपकिन क्लोरीन से ब्लीच की गई लकड़ी या रुई के गूदे से बनाए जाते हैं। इस सतह को पतला और अधिक सोखने वाला बनाने के लिए इसमें एक पॉलिएक्रिलेट जैल डाला जाता है। पैड का कवर भी पॉलिप्रापलीन से बनाया जाता है कहने का अर्थ यह है कि पैड का 90% हिस्सा कच्चे तेल से बने प्लास्टिक से बनता है। ये सभी पदार्थ प्राकृतिक रूप से नष्ट नहीं होते और न ही इनको दोबारा इस्तेमाल किया जा सकता है।

औरतों के स्वास्थ्य के नज़रिए से देखें तो साफ़ कपड़े या सस्ते पैड की उपलब्धि न होने से उन्हें अनेक तरह के संक्रमणों शर्म और तकलीफ़ों का सामना करना पड़ता है। दूसरी और बाज़ार से खरीदने की क्षमता रखने वाली औरतों द्वारा पैड को सही तरह फेंकने के प्रति बेरूखी या गैर ज़िम्मेदारी अनेक कचरा बीनने वाली महिलाओं और हाथ से कूड़ा छांटने वाले पुरुष कर्मचारियों के लिए भी रोग, अपमान और तकलीफ़ पैदा करते हैं। इन दोनों ही महत्वपूर्ण सच्चाइयों पर ध्यान देकर हम सभी के लिए सुरक्षित, रोगमुक्त और गरिमामय ज़िंदगी की ओर कदम बढ़ा सकते है। आगे चुनौतियां बहुत सी हैं पर एक साथ मिलकर इस समस्या को काफ़ी हद तक कम किया जा सकता है।

किसी दिन उनकी स्त्री बनकर रहना

विष्णु नागर

हां मुझे स्त्रियां अच्छी लगती हैं
उनकी सुंदरता, उनका यौवन, उनका उत्साह, उनका आग्रह
उनकी मुस्कराहट, उनकी बातें, उनका संग-साथ
उनका पास से गुज़र जाना, उनका स्पर्श पा जाना
उनका अपने में चले आना, उनकी याद में खो जाना
उन्हें कनखियों से देखना, आड़ से छिप कर देखना
कभी उनके साथ चलना, कभी उनके पीछे-पीछे
उनके नेतृत्व में चलने में गौरव महसूस करना
कभी उनके साथ चाय पीना, कभी उनकी शिकायतें सुनना
उनके साथ गाना, उन्हें संगीत की तरह सुनते चले जाना
उनके क्रोध, उनकी निराशाओं में साझा करना
उनके क्रोध, उनकी मुखरता में उनका साथ देना
उनकी बातों में छिपे अर्थ खोजने में
कभी-कभी बहुत दूर चले जाना, कभी जल्दी हार जाना
कभी उन्हें समझकर न समझना,
कभी उनसे उलझना-लड़ना और हारना
कभी उनका पहल करना, कभी उनका भ्रम में रखना
कभी उनका भावुक हो जाना, कभी रोने लग जाना
उनके लिए इंतज़ार करना, उनसे कभी इंतज़ार करवाना
उनके संघर्षों में साथ देना, उनके लिए जगह बनाने
के लिए खड़े हो जाना
उनकी आज़ादियों पर खुश होना
उनकी गुलामियों के खिलाफ़ खुलकर बोलना
उनके कंधे पर हाथ रखना, उन्हें अपने में समेट लेना,
उनमें सिमट जाना
और कभी-कभी उनके साथ खुद भी
स्त्री की तरह सोचने-देखने लग जाना
किसी दिन खुद भी उनकी स्त्री बनकर, उनके साथ रहना।

विष्णु नागर *हिन्दी भाषा के वरिष्ठ कवि हैं।*

संवाद

कचरे के काम में शामिल
महिलाओं की आजीविका व स्वास्थ्य

शशि भूषण पंडित

ठोस कचरा

हमारे देश के शहरों में ठोस कचरा प्रबंधन की औपचारिक व्यवस्था सुस्थापित मानदंडों पर आधारित है। यह व्यवस्था औपनिवेशिक काल की देन है। शहरी स्थानीय निकाय अपनी ज़िम्मेदारी केवल यहीं तक मानते हैं कि वे सड़कें साफ़ करने के लिए सफ़ाई कर्मचारियों की निश्चित संख्या तैनात कर दें; निश्चित फ़ासलों पर पक्के कूड़ेदान बनाने दें जहां घरों और व्यवसायों का कूड़ा फेंका जा सकता है; खास डिज़ाइन और क्षमता वाले वाहन उपलब्ध करा दें ताकि कचरे को बड़े कूड़ेदानों तक ढोया जा सके और निश्चित वर्षों के लिए सेनेटरी लैंडफिल्स की व्यवस्था कर दें।

इसके साथ-साथ परंपरागत रूप से घूम-घूम कर कूड़ा इकट्ठा करने वाले, रद्दी वालों की भी एक बड़ी जमात रही है। ये लोग गलियों में फेरी लगाते हैं और रीसाइक्लिंग योग्य पदार्थ खरीदते या इकट्ठा करते हैं। घरों और दफ़्तरों से ये लोग पुराने अखबार, कांच की बोतलें और पुराने उपकरण खरीदते हैं। इनके अलावा नियमित फेरीवाले या अन्य लोग भी होते हैं (मुख्य रूप से महिलाएं एवं बच्चे) जो पुराने कपड़ों के बदले नए कपड़े बेचते हैं। ये सभी लोग कबाड़ी वालों से जुड़े हुए हैं, जो खास स्थानों पर काम करते थे और तमाम तरह का इकट्ठा किया हुआ और खरीदा हुआ कचरा खरीदते हैं।

व्यवस्थागत बदलाव

यह समानांतर व्यवस्था अब भी मौजूद है लेकिन अब औपचारिक व्यवस्था के साथ इसका संबंध तनावपूर्ण होने लगा है। इसका मुख्य कारण यह है कि कचरे की गुणवत्ता और मात्रा में बदलाव आ रहा है जिसके चलते नगरपालिकाओं पर कचरे की ढुलाई और निस्तारण का भार

पहले से बढ़ गया है। जिन चीज़ों को कचरे से निकाला जा सकता है उनकी कीमत का सवाल भी महत्वपूर्ण है। लिहाज़ा, जहां एक तरफ़ प्रति व्यक्ति कचरा उत्पादन और वस्तुओं के उपभोग में इज़ाफ़ा हुआ है वहीं दूसरी तरफ़ शहरी आबादी भी तेज़ी से फैली है जिसके चलते नगरपालिकाएं कचरे के बढ़ते अंबार के संग्रह, परिवहन, निस्तारण की लागतों से परेशान रहने लगी हैं।

शहरी ठोस कचरे का स्वरूप भी बदल गया है। अब पैकेजिंग वाली चीज़ें ज़्यादा आने लगी हैं। इनमें से बहुत सारी चीज़ों की कम उर्जा लागतों पर रीसाइक्लिंग की जा सकती है। ऐसे कचरे को इकट्ठा करने से कमाई बढ़ी है। ऐसे कचरे की तादाद भी बढ़ी है जो जैविक किस्म का है और जिसकी कम्पोस्टिंग की जा सकती है। इनमें से बहुत सारे पदार्थ अब पहले से ज़्यादा ज़हरीले हो गए हैं और अधिकृत कचरा प्रबंधक उनको संभालने से कतराते हैं। लिहाज़ा, इस कारोबार में ज़्यादा लोग आ गए हैं। इनमें बहुत सारे प्रवासी मज़दूर, घरेलू कामगर, चौकीदार, सफ़ाई वाले, नगरपालिका अधिकारी और पुलिस अधिकारी भी एक-दूसरे से प्रतिस्पर्धा कर रहे हैं।

आजीविका से जुड़े मुद्दे

शहरी विकास मंत्रालय की मान्यता यह है कि शहरी स्थानीय निकायों के पास ठोस कचरा प्रबंधन के लिए न तो पैसा और न ही क्षमता है इसलिए सार्वजनिक-निजी सहभागिता का रास्ता अपनाया जा सकता है। इसी समझ का नतीजा है कि बहुत सारी नगरपालिकाओं ने निजी कंपनियों के साथ करार किया है और उन्हें कचरे को इकट्ठा करने और निश्चित लैंडफ़िल्स में ले जाकर फेंकने का ज़िम्मा सौंपा है। कई जगह इन कंपनियों को घर-घर जाकर कचरा इकट्ठा करने का ज़िम्मा भी सौंप दिया गया है। लेकिन दूसरी तरफ सर्वोच्च न्यायालय द्वारा नियुक्त की गई समिति ने सुझाव दिया है कि इस प्रक्रिया में स्थानीय कचरा बीनने वालों को भी शामिल किया जाना चाहिए।

जैसे-जैसे ये प्रक्रियाएं पुख्ता हुई हैं कचरा बीनने वालों ने भी अपनी आजीविका बचाने के लिए अपने संगठन बनाए हैं। इस प्रक्रिया में उन्हें बहुत सारे स्वैच्छिक संगठनों की भी मदद मिली है। इन प्रयासों में इस बात पर आम सहमति बनती दिखाई दे रही है कि कचरा बीनने वालों के संगठनों को कचरे तक पहुंच, कचरे की छंटाई के लिए जगह, भंडारण और कचरा प्रासेसिंग तथा व्यापार में टिके रहने के लिए आसान शर्तों पर छोटे कर्ज़े मिलने चाहिए और इसके लिए उनको क़ानूनी पहचान की ज़रूरत है।

दिल्ली की दो पहचाने हैं। एक देश की राजधानी के रूप में और दूसरी एक राज्य की तरह। दिल्ली में रहने वाले लोग भी दो पहचानों के साथ ज़िंदा है। एक पहचान लिए चकाचौंध वाला जीवन जीने वाले उच्च वर्ग और दूसरी बगैर सम्मान और पहचान के महानगर में रहने को मजबूर ग़रीब मज़दूर। कचरे की बात करें तो ज़्यादातर कामगर भारत के अंचलों से रोज़गार की तलाश में पलायन होकर दिल्ली आये हैं। कचरे के व्यवस्थापन को समझने का प्रयास करें तो दिल्ली प्रति दिन सरकारी आंकड़ों के अनुसार 15 हज़ार मैट्रिक टन कचरा पैदा करती है। इसको व्यवस्थित करने के लिए महानगर में 5 नगरपालिकाएं हैं। 3 बड़े लैंडफ़िल भी हैं कचरे को ठिकाने लगाने के लिए, चार प्राइवेट कंपनी हैं और 1 कचरा से बिजली बनाने के लिए परियोजना भी चल रही हैं। 3.5 लाख असंगठित क्षेत्र के श्रमिक भी अपना अनाधिकारिक तौर पर योगदान दे रहे हैं।

कचरा व्यवस्थापन के काम चूंकि व्यवस्थित नहीं है इसलिए इसमें उतना ही ज़्यादा ख़तरा भी है। इस बात को सुधारने के लिए कोई एक्शन प्लॉन नहीं किया गया है। यह सिर्फ़ चर्चा का विषय बन कर रह गया है।

महिलाओं और बच्चों को देखें तो इस काम के एवज़ में वे अपना जीवन का आधा हिस्सा क़ुर्बान कर रहे हैं। इन्हें काम करने के दौरान कई बीमारियों का शिकार होना पड़ता है। चमड़ी की बीमारी, सांस की बीमारी, खुजली, टेटनस, डायरिया, चेचक इत्यादि! इन बीमारियों के लगने से ये अपना जीवन पूरा नहीं जी पाते क्योंकि इनके लिए कोई स्वास्थ्य सहायता नहीं मिल पाती। सरकार की स्वास्थ्य संबंधी योजनाओं का लाभ भी इस वर्ग को नहीं मिल पाता। कहने के लिए असंगठित क्षेत्र के श्रमिकों के लिए सामाजिक सुरक्षा क़ानून 2008 से लागू है। लेकिन उसका लाभ शायद ही किसी कामगर को प्राप्त हो।

कचरे के काम में जुड़ी महिलाओं और बच्चों की संख्या करीब 1.5 लाख से 1.75 लाख के आसपास है। इस काम से जुड़ी महिलाओं को कुछ खास तरह की समस्याओं का भी सामना करना पड़ता है। यौन उत्पीड़न, अभ्रद मौखिक व शारीरिक व्यवहार, हिकारत और अपमान की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी, छुआछूत तो इन महिलाओं के जीवन की सच्चाई बन चुकी हैं। इन महिलाओं और लड़कियों को अपने काम की जगह के साथ-साथ घरों के भीतर भी पुरुषों के दमन, शोषण और अपमान का सामना नियमित रूप से करना पड़ता है। घरेलू हिंसा और यौन हिंसा के मामले भी सामने आए हैं।

दिल्ली शहर में तीन लैंड़फ़िल्स हैं— गाज़ीपुर, भलस्वा और ओखला। आकड़ों और पर्यावरण समूहों के शोध अध्ययन से मालूम चला है कि यहां काम करने वाले कामगरों में कैंसर होने की संभावना बढ़ जाती है। कचरे से पैदा होने वाली ज़हरीली गैस मिथेन में सांस लेने से फेफड़ों को बहुत नुकसान पहुंचता है। यहां पैदा होने वाला ज़हरीला कचरा, धातु, लैड जैसे पदार्थ ज़मीन के अंदर पानी को भी प्रदूषित करते हैं। इस पानी को पीने से अनेक तरह की बीमारियों और संक्रमण का ख़तरा बढ़ जाता है। गर्भवती महिलाओं के लिए विशेष रूप से यहां की ज़हरीली गैस व काम के हालात उपयुक्त नहीं है। अजन्मे बच्चे के लिए भी दमा, हृदयरोग, चर्मरोग, या अन्य तरह के संक्रमण और रोगों की संभावना बढ़ जाती हैं।

इस समुदाय के योगदान को देखा जाय तो अभी तक ये तकरीबन 30 प्रतिशत कचरे का निपटान अपने श्रम से करते हैं। लेकिन अगर इन कामगरों को कचरा व्यवस्थापन का हिस्सा बना लिया जाय तो महानगर में रोज़ पैदा होने वाले कचरे का 80 प्रतिशत हिस्सा का स्थानीय स्तर पर निपटारा हो जायेगा। इसके लिए किसी तरह के और खर्चे की आवश्यकता नहीं है। मोटे तौर पर कचरा तीन तरह का होता है— पुनर्चक्रण 30%, जैविक 50% और अनुपयोगी 20% है। असंगठित क्षेत्रों के मज़दूर पुर्नचक्रण योग्य कचरा की छंटाई करके अपना जीविका चलाते हैं। यदि उनको अवसर दिया गया तो वे जैविक कचरा को खाद बना कर समाज में योगदान कर सकते हैं।

शशि भूषण पंडित *अखिल भारतीय कबाड़ी मज़दूर महासंघ के सचिव हैं।*

पगड़ी

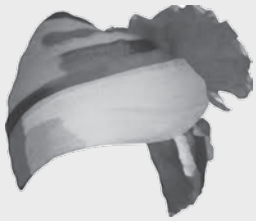

अनामिका

आजी कहती- 'भूले से भी
कुछ ऐसा मत करना, बेटी
जिससे उछल जाए बाबा की पगड़ी!'

जब भी बाबा जाते बाहर,
धीरे से पगड़ी उठाते,
मैं भी मचल जाती, फिर आजी समझाती-
'जा तो रही है तू
सिर चढ़ा रखा है तुझको ही
तू ही है बाबा की पगड़ी!'

भैया आगे-आगे दौड़ता
खिड़की पर खड़ी-खड़ी मैं सोचती
'सिरमौर मैं हूं बाबा का,
मैं ही तो हू उनकी छाया कलंगीदार,
माथे पर चढके प्रचंड धूप तब भी मैं
उनको लू लगने नहीं देती!'

जब बाबा नहीं रहे,
भैया का मुकुट बन गई
बाबा की पगड़ी।
लेकिन अब हालात ऐसे हैं,
एक पगड़ी मुझे भी चाहिए,
'सात महीने का एडवांस,
ऊपर से पगड़ी'
इंटरनेट पर सूचना है!
किराये का घर चाहिए तो ये पगड़ी
देनी ही होगी!
सर्च ... क्लिक ... क्लिक ... सर्च ... क्लिक!
कर लूंगी इसका भी इन्तज़ाम
जैसे कि मज़दूरनी रखती है गमछी के गोले पर
बालू की तकड़ी,
मैं सारी दुनिया उठा लूंगी माथे पर
अपने ही आंचल की बांधे हुए पगड़ी।

अनामिका *नारीवादी कवयित्री और शिक्षिका हैं।*

संवाद

अरुणा शानबाग: अहम सवाल

जुही जैन

18 मई 2015 को अरुणा शानबाग की मौत की खबर अख़बारों और न्यूज़ चैनलों की सुर्खियों में थी। पर कौन थी अरुणा शानबाग? नवम्बर 1973 में 26 साल की युवा नर्स अरुणा के साथ अस्पताल में काम करने वाले सफ़ाई कर्मचारी, सोहनलाल बाल्मिकी ने बलात्कार किया और कुत्ते की चैन से उसका गला घोंटने की कोशिश की। हादसे के नतीजतन अरुणा की देखने-बोलने की शक्ति खत्म हो गयी। दिमाग तक पहुंचने वाली ऑक्सीजन की सप्लाई खत्म होने के कारण एक जीती जागती लड़की की हालात कुछ ऐसी हो गई जिसे मेडिकल शब्दावली में डॉक्टर 'वेजिटेटिव स्टेट' के नाम से जानते हैं। आरोपी पर सिर्फ़ चोरी और जान से मारने की कोशिश का केस चला और उसे सात साल की दोहरी सज़ा हुई।

उस जमाने में बलात्कार— सॉडमि जैसे अपराध के मामले अदालत तक नहीं जाते थे। अरुणा केस में भी कुछ ऐसा ही हुआ। *किंग एडवर्ड मेमोरिएल अस्पताल मुंबई* (केइएम) के प्रशासन ने, जहां अरुणा और बाल्मिकी दोनों काम करते थे, अरुणा की इज़्ज़त का हवाला देते हुए पुलिस में सॉडिमी का मामला दर्ज नहीं कराया। सबूत छिपा लिए गए। अस्पताल की नर्सों और प्रशासन ने पूरे 42 सालों तक अरुणा की सेवा-टहल की और उसे जीवित रखा। उसके खाने-पीने साफ़-सफ़ाई, मनोरंजन, बातचीत सभी को पूरा करने की ज़िम्मेदारी उठाई। अपनी सभी इंद्रिय शक्तियां खो चुकी अरुणा हर पल की पीड़ा झेलती अस्पताल में पड़ी रही। उसके परिवार वाले और मंगेतर ने भी उसकी सुध नहीं ली। सिर्फ़ अस्पताल के कर्मचारियों ने उसे अपने परिवार का सदस्य मानते हुए जी-जान और अपनत्व से उसकी देखभाल की।

अरुणा शानबाग की मौत ने कितने ही सवालों को हमारे सामने लाकर खड़ा कर दिया है।

सबसे पहला सवाल यह है कि अरुणा के साथ हुए अपराध-सॉडिमी की शिकायत पुलिस और क़ानून के

दरवाज़े तक क्यों नहीं पहुंचाई गई? अरुणा के सम्मान की बात के अलावा शायद एक कारण यह भी था कि 1973 में 'सॉडिमी' के अपराध को 'बलात्कार' की श्रेणी में नहीं माना जाता था। इसे महज एक 'अप्राकृतिक' क्रिया मानते हुए इसके अपराध में 10 वर्ष की सज़ा का प्रावधान था। आजकल क़ानून बदल गया है पर फिर भी कितने अपराधी दण्डाभाव में जीते हैं और औरतें कलंक और यातना का जीवन बसर करने को मजबूर हो जाती हैं।

एक दूसरी बात जिसका ज़िक्र करना महत्वपूर्ण है वह है अस्पताल खासकर नर्सों द्वारा अरुणा को मिलने वाली देखभाल। इसमें कोई विवाद नहीं है कि यह एक अनूठी मिसाल है। 42 सालों तक एक औरत की देखभाल, उसके खाने-पीने कपड़े बदलने, उसे गाना सुनाना, बातें करना और उसकी छोटी से छोटी प्रतिक्रिया को बारीकी से समझना। यह एक बहुत ही नेकी और प्रतिबद्धता की मिसाल है।

इसी से जुड़ा है तीसरा और अहम सवाल। अरुणा की एक जानकार, लेखिका पिंकी विरानी ने 2011 में अदालत में एक याचिका दायर की। पिंकी का मानना था कि अरुणा की तकलीफ़ों और अवस्था को देखते हुए उसके लिए इच्छा मृत्यु का अधिकार होना चाहिए। अस्पताल की

नर्सों को यह गवारा नहीं था— वे अरुणा को अपने परिवार का सदस्य मानती थीं और नहीं चाहती थीं कि उसे मरने के लिए छोड़ दिया जाए। अदालत ने पिंकी विरानी की याचिका पर गौर करते हुए तथा नर्सों का अरुणा से भावनात्मक जुड़ाव देखते हुए पिंकी की याचिका रद्द कर दी। साथ ही यह फ़ैसला भी सुनाया कि अरुणा जैसे मरीज़ों को निष्क्रिय रूप से शरीर त्यागने की इजाज़त है, बशर्ते सभी क़ानूनी हिदायतों का पालन किया गया हो। यानी अदालत ने उसके लिए "पैसिव यूथेनिसिया" को मंज़ूरी दी।

अस्पताल ने इस फ़ैसले को न मानते हुए अरुणा की देखरेख जारी रखी। उसका खाना-पीना, इलाज, दवा सभी चालू रहा जिसके वजह से वह 42 साल जीवित रही।

अरुणा मामले ने हमें समाज की एक ऐसी कड़वी सच्चाई से भी रुबरु कराया है जिसके बारे में हम शायद ही कभी सोचते हों। क्या हम नहीं जानते कि इलाज के लिए अस्पताल आने वाले कितने ही रोगी महंगी चिकित्सीय सेवाओं और दवाओं के भारी खर्चे न उठा पाने की स्थिति में जीने की आस छोड़ देते हैं। इलाज करवाने की यह असमर्थता भी एक तरह की इच्छा मृत्यु ही है न? कितने ही बीमार और मरनासन्न मरीज़ खर्चा न उठा पाने की स्थिति में अस्पतालों से घर वापस लौट जाते हैं या फिर इलाज के बारे में सोचना ही बंद कर देते हैं।

कुछ ऐसी भी बीमारियां होती है जिनमें सभी सुविधाओं के बावजूद रोग में विशेष फ़र्क़ या बेहतरी देखने को नहीं मिलती। ऐसी हालात में सक्षम परिवारों को भी यह सोचना पड़ता है कि इलाज जारी रखा जाए या नहीं। कुछ परिवार एक सीमा तक ख़र्चा करने के बाद इलाज बंद करने का कठोर फ़ैसला लेने को मजबूर हो जाते हैं क्योंकि वे इससे ज़्यादा रकम खर्च नहीं कर सकते। अंत में देखें तो इस पूरी प्रक्रिया में सबसे ज़्यादा फ़ायदा डॉक्टरों, अस्पतालों, दवाई की कम्पनियों और फ़ार्मा उद्योगों को ही पहुंचता है।

अरुणा के जीवन से हमें यह सबक लेना चाहिए कि हम स्वास्थ्य सेवाओं को सबके लिए उपलब्ध करा सकें। अगर हम यह मानते हैं कि हर इंसान को गरिमामय जीवन जीने और गरिमा के साथ मरने का अधिकार मिलना चाहिए तो ऐसी स्वास्थ्य सुविधाओं के लिए सरकार पर दबाव बनाया जाना चाहिए जिनसे हर तबके, हर वर्ग का इंसान कम से कम तकलीफ़ और ज़्यादा से ज़्यादा देखभाल और इलाज पा सके।

यहां पर हम देखभाल और बीमार व्यक्ति की तीमारदारी की ज़िम्मेदारी की भी बात कर लें तो अच्छा रहेगा। अधिकतर देखा गया है कि रोगी की देखभाल, साफ़-सफ़ाई खाने-पीने का ज़िम्मा परिवार की औरत पर आता है। जहां औरतें आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं है वहां पुरुष रुपये पैसे से रोगी की ज़िम्मेदारी उठा लेते हैं। पर बहुत सी ऐसी स्थितियां है जहां पूरा ज़िम्मा औरत के कंधों पर आता है। फिर हम देखभाल भी उन ही लोगों की करते हैं जो हमारे परिवार के सदस्य होते हैं या जिन्हें हम अपना मानते हैं। अरुणा की देखभाल अस्पताल की नर्सों ने की क्योंकि उसका परिवार वहां नहीं था। अस्पताल की वैकल्पिक दुनिया ही उसकी अपनी हो गई थी। पर अरुणा की तरह कितने मरीज़ होते हैं? सड़क पर दुर्घटना में या घरों पर बेसहारा पड़े बुजुर्ग, बच्चे या औरतों की देखभाल कोई नहीं करता। अगर हम यही चाहते हैं कि हर व्यक्ति को एक अच्छी देखभाल नसीब हो तो यह ज़िम्मेदारी हम सबको मिलकर उठानी होगी। समुदाय और राज्य के स्तर पर भी देखभाल सुविधाओं की मांग करनी होगी।

इन सब सवालों और सरोकारों से जुड़ा है एक आख़िरी प्रश्न-औरतों की कार्यस्थल पर सुरक्षा। अरुणा यौन और शारीरिक हिंसा का शिकार हुई क्योंकि अस्पताल की सुरक्षा

में कमी थी। पर इस सुरक्षा के मुद्दे को अरुणा की देखभाल के सामने बिल्कुल नज़रअंदाज़ कर दिया गया। अस्पताल में एक महिला पर हमला होने के बाद सुरक्षित कार्यस्थल के लिए एक ज्वलंत मांग उठनी चाहिए थी। पर ऐसा नहीं हुआ। यहां तक कि अस्पताल की आन बचाने की ख़ातिर बलात्कार जैसे संगीन अपराध को दर्ज ही नहीं किया गया। यह विडम्बना ही तो है कि अरुणा के साथ होने वाले इतने बड़े अन्याय को दबाकर उस अन्याय से होने वाली पीड़ा के निदान पर ज़्यादा ध्यान दिया गया। अस्पताल के प्रशासन ने तय कर लिया कि वे हर हाल में अरुणा को ज़िंदा रखेंगे। पर क्या अरुणा वास्तव में यही चाहती थी? अगर वह बेहतर हालत में होती तो क्या वह इसी जगह इलाज करवाती? या फिर वह अस्पताल के असुरक्षित माहौल पर सवाल उठाती? अरुणा के शरीर पर अधिकार को भी अनेक तरीक़ों से आंका गया है— यौन हिंसा, देखभाल, निष्क्रिय इच्छा मृत्यु असुरक्षित काम का माहौल और न जाने क्या-क्या।

हमारे पास कोई जवाब नहीं है। यह मामला उतना साधारण भी नहीं है। इसमें अनेक जटिल सवाल और अहम सरोकार छुपे हैं। आज अरुणा शानबाग हमारे बीच नहीं है। हम आशा करते हैं कि वह उस लोक में सुखी होगी। और साथ ही उम्मीद करते हैं कि उसके जीवन और मौत से जुड़े अनेक-अनेक पहलुओं पर हम विचार करके आने वाले समय में कुछ ठोस क़दम उठा सकेंगे।

जुही जैन *नारीवादी कार्यकर्ता और हम सबला की सम्पादक हैं।*

जच्चाघर की मोनकिया धाय: जन्नत के बाहर

अनामिका

मेरी अपनी गोद हरी नहीं हो पाई
पर मैंने कितनी ही जचगियां करवाईं!
कब तक पड़ी रहती
मुंह के बल!
देह झाड़ उठ बैठी!
कितने तो काम पड़े थे मुझ पर!
बादल तहाए!
नदी बिछाई!
फटकी-चुनी राई!
रगड़-झगड़ काई छुड़ाई
क्षितिज की,
एक मटका रोशनी लाई।
उद्दाम-सी प्रसव-पीड़ा में
काट रही थी केल्हवा धरती
इधर से उधर,
तोड़-मरोड़ दिया उसको,
और करवाई उसकी ओइरी!
काट डाली फिर नहरनी से नाल!
गोद धरती की हरी की,
हरी-भरी गोद पर निहुंच डाले
रंगील और बताशे
तारों के, फूलों के!
मन-भर सोहर गाये, इतराई!

मैं हव्वा की जाई!
जन्नत से मुझको
निकाला गया जिस दम-
उस दम ही
एक नई दुनिया की तामील,
एक नई जन्नत बसाई!

कहानी

कोठरी में लड़की

मृणाल पांडे

"दस बरस की पहाड़ी घर की लड़की है, और अब तक इसे बुनना नहीं आता है? कैसी मां हो? अरे, बुनने-पिरोने लगेगी ये मुन्नी, तो ज़रा हीले से लगेगी, वरना दसियों किस्म की खुराफातें इसी उमर में..."

यह वाक्य तो आधा ही छोड़ दिया गया, लेकिन बात जो गेंद की तरह टप्पे खाने पर आयी, तो देर तक फुदकती-फुदकती कोठरी में मंडराती रही।

"मेरी लड़की ने तो चायदानी के लिए जो कढ़ाईदार कवर बुना है, देखो तो, यकीन नहीं कर सकोगी कि एक बच्ची के हाथ का बना है। उसके स्कूल की नन्स जर्मन है, जर्मन! एक-एक फन्दा परखती है चश्मा लगाकर..."

"मेरी लड़की तो बेबी-फ्रॉक बुनने लगी है। अब खुद ऊन छांटकर हमारे पड़ोस वालों की बहू के बच्चे के लिए उसने ऐसा बढ़िया फ्रॉक बुन निकाला है कि दांतों तले अंगुली दबा लो! ऐसी सुडौल जाली बनाती है, जैसे फूल की पंखुड़ी..."

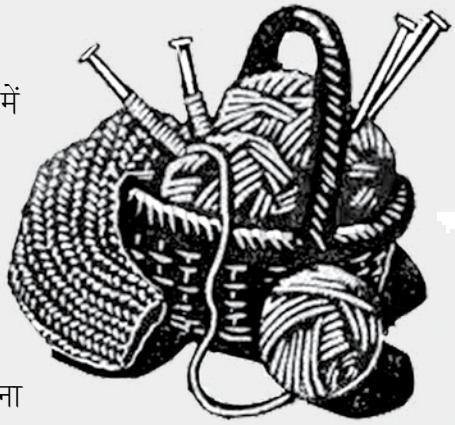

बाद को मां ने ये सारी बातें मुन्नी के आगे पल्ला झाड़कर बिखेर दीं।

"दस बरस की हो गयी हो और अभी तक फ्रॉक की उधड़ी बखिया में सेफ्टीपिन लगाकर यूनिफॉर्म पहन लेती हो, बुनाई-सिलाई कुछ नहीं जानती, अरे, बुनने-पिरोने लगोगी, तो जरा हीले से..."

मुन्नी की भूरी आंखों में जो मां के मुंह से झड़ती इस नई जुबान पर विस्मय उभरा, तो मां ने एक हल्का झूठ भी चट गिठान लगाकर इसी तार से जोड़ दिया...

"मैंने तो आठ बरस से ही सलाइयों पर उल्टे-सीधे और जाली के फन्दे डालना सीख लिया था। शुरू में हाथ साफ़ नहीं था, पर अभ्यास करते-करते चार सलाई वाले मोज़े भी बुनने लगी थी स्कूल में।"

मुन्नी को कोठरी में बिठाकर बुनना-पिरोना सिखाया जाने लगा है। हालांकि इस बड़े से हॉलनुमा कमरे में बैठनें वाली और लड़कियों की तरह चुलबुली मुन्नी अभी भी एकाग्र और तन्मय नज़र नहीं आती, बाकी लड़कियां बड़े सलीके से दो जानूं जाकर बैठती हैं। उनकी सलवारों के पौंचे शिष्टता से उनके टखने ढकते हैं, उनके हाथ एक सौम्य धीरज से ऊन के सुडौल गोले बनवाते हैं, उलझी लच्छियां धीमे-धीमे सुलझाते हैं, उधर मां की बिल्लली मुन्नी है कि अपनी उटंग फ्रॉक गोद में उड़कर हवाई जहाज़ की तरह टांगे फैलाये बैठती है। ऊन की उलझी लच्छी को वह उठाती है, तो ऐसे, जैसे वह कोई जटादार बालों वाला गंधाता पिल्ला हो। उसके हाथ दूसरी लड़कियों की तरह नरम और लुघड़ता से कटे नाखूनों वाले नहीं, झड़बेरियां झड़ाते, मुंडेरों को मापते, ढेले फेंकते उसके नन्हें हाथ छोकरों जैसे भूरे और सख्त हो गये हैं, उसके नाखून बेतरतीबी से कटे हैं, और लड़कों जैसे बाल भी सेही के कांटों की तरह पीछे से खड़े रहते हैं। रोज़ चोटी गुंथाने के दर्दनाक झंझट के बचने को उसने एकबारगी से कैंची उठाकर अपनी एक चोटी काट ली थी, फिर दूसरी चोटी मां को काटनी ही पड़ी थी। पर कुछ बैठने के बरद जल्द

की कोठरी वालियों की समवेत राय बन गयी कि लड़की बिलल्ली भले हो, ज़हीन तो है। एकबारगी से सलाइयों पर फन्दे चढ़ाना-उतारना समझ गयी और अब देखो, नमूने उतारना भी कैसे खटाखट सीख रही है।

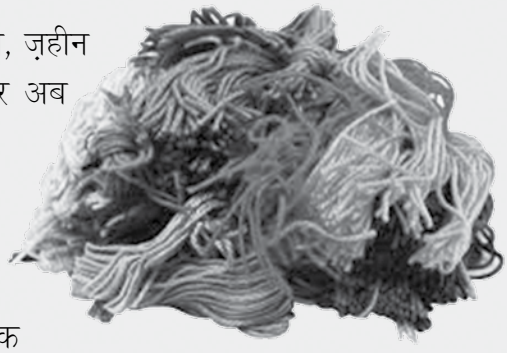

दांतों से ऊन की डोर कुतरती मां उदासी से देखती है। मुन्नी होंठ भींचकर अपने सामने दोनों सलाइयां यूं खटका रही है, जैसे चकमक पत्थर से आग जला रही हो। उसकी टांगों पर झाड़ियों की खरोंचें अभी भी हैं, यह टांगें कमरे में फिट नहीं होतीं। कमरे में बुनाई करती मां भी अब तक कमरे में कहां फिट होती थी? अलबत्ता बेटी के यूं आ बैठने से उसे अब एक किस्म का साथ-सा मिल गया। जब बाहर पानी के परनाले बहते होते हैं और पहाड़ों के पीछे से कोहरा और कोहरे के पीछे से अंधेरा घाटी में लुढ़कते चले आते हैं, तो जी घिरने वाली उस घड़ी में बेटी मां के पैरों के पास बैठी-बैठी सलाइयों पर घर उतारती, गिराती, गिनती रहे, या बुरा नहीं लगता।

घर की औरतें खुश हैं— "देखा, कहा नहीं था कि चटपट सीख लेगी बुनना भी। अरे, दिन-भर शाम भर लग्गी लेकर, ऐसे ऊंचे-ऊंचे फराक पहनकर अब पेड़ों पर लड़कों की तरह चढ़ना क्या? लड़की है, बड़ी हो रही है। ऐसे में कौन जाने, कब कोई बुरी नज़र डाल दे..."

मुन्नी सर ऊपर नहीं करती, वह मां की सलाइयों की खटखट में एक ठण्डा चुप्पा क्रोध भांप सकती है। मां जानती है कि इस तरह बैठना कितना भारी पड़ता है। वह यह भी समझती है कि भीतर पढ़ाई के कमरे में मुन्नी की अधपढ़ी किताबें उसकी आंखों के पीछे अभी भी लगातार कैसे फड़फड़ाती होंगी। और जब वह सोचती है कि होते-होते एक समय आयेगा, जब मुन्नी उन किताबों के अधपढ़े पन्नों में कागज़ का कोना दबाना छोड़ देगी और एक दिन ऐसा होगा, जब वह सिर्फ़ दोपहर की नींद बुलाने को हाथ में कोई भी, कैसी भी किताब उठा लेगी, तो मां की सांस रुकने लगती है।

सच कहें, तो मां का यूं बेटी को जबरन बुनाई सिखाना एकदम नहीं रुचता। जब यहीं मुन्नी पेट के बल लेटी अपनी किताब में से परी-कथा या जोखिम भरी जासूसी कहानी का रस लेती होती है, उसकी आंखों में कैसी अद्‌भुत चमक होती है और उसके लगातार हिलते ऊर्ध्वमुखी टखनों में कैसी गज़ब की फुर्ती, जैसे अभी उनके बगल में से देवदूतों जैसे दो पंख उग आयेंगे और वह अचरज लोक की ओर फटाफट उड़ान भरने लगेगी। जब मुन्नी एक पुराने झाड़न से पतंगे पकड़ने को पिछवाड़े के जंगल में दौड़ती फिर रही होती है, उस वक्त भी तार पर कपड़े फैलाती मां सुनती रहती है कि एक कैसी मीठी-शब्दहीन गुनगुनाहट उसके होंठों से खुद-ब-खुद झरने-सी फूटती रहती है। पर इन इस्पाती सलाइयों को टकटकाती उसकी बेटी ने अपना भोला बातून मुंह कसकर भींच लिया है। उसकी भौंहे पर भी दूसरों में मीन-मेख निकालने वाली एक परिचित और मगरूर झुंझलाहट गांठ बनकर आ बैठी है। क्या एक दिन ऐसा आयेगा, मां अकुलाहट से सोचती हे, पर मुन्नी के कसकर भिंचे इन होंठों के पीछे की गुनगुनाहट सतरंगे बुलबुले की तरह बैठ जायेगी, और फिर या होंठ जब खुलेंगे, तो उनसे अपने नमूनों की वाहवाही और दूसरे की तबाही के चर्चे सौ-सौ पैरों वाले कनखजूरे की तरह रेंगते हुए बाहर चले आयेंगे?

मुन्नी चुपचाप बुन रही है। मां जानती है कि वह उपेक्षा नाट्य करती हुई भी लगातार बड़ों की बातें सुन रही है, और भीतर-ही-भीतर जाने जाने क्या-क्या सोच रही है। मां देर तक उसके होठों को पढ़ती रहती है, पर बेकार! मुन्नी का सोच-विचार होठों के पीछे कसकर छुपता जा रहा है।

मां को भीतर-ही-भीतर पकते ऐसे सोच से डर लगता है। जब उसकी मुन्नी खुले में उजड्ड बालों का जटाजूट धीरे एक टांग से दूसरी पर कूदती मुंडेर-दर-मुंडेर इक्कट-दुक्कट करती रहती थी, तो मां कतई नहीं डरती थी, वह जानती थी कि इस दम उसकी बच्ची का पूरा ध्यान टखनों की पेशियां सिकोड़कर मुंडेरों की ऊंचाई कूदने, आंगन के कोने-कोने की कच्ची पाली, पक्की पाली और सीढ़ियों की ऊंचाई कूदने, आंगन के कोने-कोने की कच्ची पाली, पक्की पाली और सीढ़ियों की ऊंच-नीच गिनने और एक छलांग से लकीर तक की दूरी अपनी सांस साधकर गुनने में ही जुटा हुआ होगा। जिस वक्त वह हल्ला-गुल्ला करती, बकरी के बच्चे की फुर्ती से घास में कुलांचे भरती, झाड़ियों से फल झड़ा रही होती थी उस वक्त भी मां उस पर गुस्से का नाट्य भर करती थी। भीतर से वह निशफिकर रहती कि मुन्नी का बातून मन इस वक्त पक्के फलों का गुच्छा ताकने, कुचली घासों की जंगली गन्ध सूंघने और लाठी थामें खटिक पहरेदारी की पदचाप भांपने में मज़ेदार ढंग से लुढ़क-पुढ़क हो रहा होगा।

पर इस वक्त कोठरी में बैठी उसकी मुन्नी के झुके हुए सर के ऊपर जो बातें गर्द के कणों की तरह उड़-उड़कर इधर-उधर तैर रही हैं, मां को उनसे खटिक की लाठी या पिण्डली की गहरी खरोंच से, कहीं अधिक खौफ़ लगता है। मां नहीं जानती कि चुपचाप ऊन के फन्दों को चढ़ाती-गिराती उसकी बच्ची इन उड़ती बातों का भीतर-ही-भीतर गुप्त नमूनों में लगातार कैसे गूंथती जा रही है। सीधे पर उल्टा! उल्टे पर सीधा, पिछले फन्दे को अगले फन्दे पर चढ़ाती हुई उसकी मुन्नी जाने कैसी-कैसी अंधेरी और ऊटपटांग-सी गलियां टटोल रही हो?

"क्या सोच रही है?" आखिरकार मां लाड़ से भेद लेने को पूछती है।

"कुछ नहीं, घर गिन रही थी।" होंठ फिर भिंच जाते हैं।

चुप्पी, मुन्नी की सलाई की नोंक पर एक जोंक की तरह हवा में कुछ तलाश रही है। एक घर नीचे फिसल गया है। मुन्नी दांतों के बीच जीभ दबाये बड़ी तन्मयता से उसे बचाने में लगी है। कमरा अब खाली है शाम घिर रही है।

दफ़्तरों में मर्द और खेल के मैदान से लड़के घर लौटते होंगे, औरतें उनकी ताबेदारी को लौट गयी हैं।

"अम्मा..."

"हां लाल?"

अपने अनुभव से मां को मालूम है कि दस साल का मन अंधेरी बन्द कोठरियों से किस रफ़्तार से भाग सकता है। वह जानती कि कोठरी में कई कथाओं के कई सूत्र किस तरह ऊनी गिठानों में उलझकर एक अजीब बीहड़ चुभनभरा आवरण बनाते हैं और धूसर रंग की सूंस के थूथन जैसी इस्पात की यह सलाइयां घरों, गिठानों की टोह लेते-लेते उनको लेकर जाने क्या-क्या उधेड़बुन रच सकती हैं। मां का मन करता है कि वह मुन्नी के हाथ की बुनाई छीनकर दूर फेंक दे और उसे घुमन्तू फिरने को छुट्टा छोड़ दे फिर से। वह बाग, बगीचा, झरना, तालाब, पेड़ों की उगालें, कांटेदार झाड़ियां, जो चाहें मापे और फलांगे। यह चुभन भरी, उलझी-उलझी लच्छियां, यह ठंडी लोहे की सलाइयां, दीवारों पर टंगे सलमा-सितारे जड़े निरंतर मुस्कराते देवी-देवता, ग्वाल-बाल, यह सब किस दिशा में मुन्नी को न्योत रहे हैं, वह मां बखूबीं जानती है। बरसों से वह खुद पढ़ती रही है, उसी ओर!

पर दस साल की लड़की? आधी बच्ची, आधी...? उसे छुट्टा एकदम बाहर ऐसे ही छोड़ना ठीक होगा? मां हिचकिचा जाती है।

मां का आधा मन कहता है कि काश, वह अपनी मां जैसी होती। तब वह अपने आंचल के छोर से अपनी लड़कियों को जन्म से लेकर ब्याहने तक इसी कोठरी में, यूं कसकर, बांध-बिठा रखती, जैसे वे पुश्तैनी चाबियों का कोई दुर्लभ गुच्छा हों।

वह और उसकी बहनें तो कोठरी से उठाकर बाहर लायी जाती थीं, तो ब्याह करने या पुष्पा की तरह प्रेमी के साथ भाग...

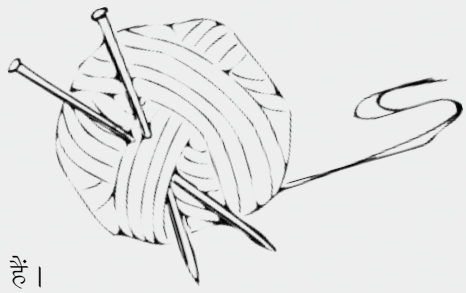

"मां...।"

"क्या लाल?"

"वैसा वाला भागना क्या होता है?"

"कौन-सा बच्चे?"

"पुष्पा मौसी वाला?"

दो बेढंगे-बेड़ौल फन्दे मां की सलाई की ठण्डी नोक से टपकने को आते हैं।

"वो क्या कहते हैं, देख-तेरी बक-बक में घर गिरने को हैं सलाई से।"

दो गदबदी बाल-अंगुलियां गिरते घर छूती हैं— "मां? पुष्पा मौसी की शादी हो गयी? मैंने क्यों नहीं देखा उन्हें?"

"हां, वो और मौसा जी दूर रहते हैं।"

"ओ, और मां, तो क्या मौसा जी की भी शादी उनसे हो गयी?"

"साथ-साथ दोनों की हुई ना?"

"तब फिर भागकर के शादी करना खराब क्यों है?"

"खराब नहीं, पर पहले सबको बता के करनी चाहिए ना शादी!"

"क्यों? शादी तो उन दो की हुई न?"

"अब रहने दो। अभी से बड़ों जैसी बातें मत कर। तू बड़ी होगी, तो खुद समझ जायेगी।"

ऊन, सलाई और नमूने संभालती मां अपने-आपको इस कोठरी में दीवारों के बीच कतई असहाय, कातर और झूठी महसूस करती है। मुन्नी फिर बात नहीं उठाती, सर झुकाये बाहर चली जाती है, पर मां जानती है कि उसका तर्रार दिमाग अब रात-भर उन उलझी बातों के टुकड़ों में रंग मिलाते हुए, गुप्त तस्वीरें-नमूने बनाने-बिठाने में जुटा रहेगी। इस कोठरी से निकली दुनिया उसकी बच्ची के साथ आगे दूर तक चली जायेगी, जैसे कि फैक्स मशीन पर लाइन-दर-लाइन खबरों की इबारतें उभरती जाती हैं, बिन्दु-बिन्दु चेहरे सामने आते रहते हैं। मां के चाहने, न चाहने से कुछ नहीं होगा।

मां का मन करता है कि मुन्नी का हाथ पकड़कर उसे इस घर के बाहर खुले में ले जाकर खड़ा कर दे। वहां, जहां वह हमेशा की तरह उससे साफ़ बेझिझक जुबान में ऐसे ठोस सवाल पूछ सकेगी, जिसके जवाब मां ईमानदारी से उसे दे सके, पर अपने मन में हमेशा डगमगाती मां को यह भी लगता है कि वैसा कर पाने की ताक़त या भरोसा खुद उसमें कहां है? उधर वक्त तेज़ी से गुज़र रहा है और उसकी मुन्नी घड़ी-घड़ी अपने जीवन की उस विराट सच्चाई के पास लगातार आती जा रही है, जिससे पूरी तरह रू-ब-रू होने के बाद औरतों के पास झूठ बोलने या दर-ब-दर हो रहने के अलावा कोई तीसरा चारा नहीं रह जाता।

मृणाल पांडे *हिन्दी साहित्य की वरिष्ठ लेखिका हैं।*

अभियान

बजट 2015- महिलाओं के लिए क्यों नहीं है?

सौम्या तिवारी और प्राची साल्वे

तथ्यः

- 2015-16 के बजट में, पिछले वर्ष की तुलना में महिलाओं के लिए किए गये आबंटन में 19 प्रतिशत की कमी की गई है।
- महिला व बाल विकास मंत्रालय के कुल बजट आबंटन को आधे से भी कम कर दिया गया है।
- बलात्कार क्राइसिस केंद्रों की संख्या 660 से घटाकर 36 कर दी गई है।
- सामाजिक खण्ड के वित्तीय आबंटन में 16.3% (2014-15 अनुमानित बजट) व 15.06% (संशोधित अनुमान) की जगह केवल 13.7% आबंटन किया गया है।

आइए आंकड़ों पर एक नज़र डालें।

भारत में लिंग अनुकूल बजटः धनराशि में गिरावट 2015-16

- इस बार बजट में महिलाओं के लिए किए गए आबंटन में 19 प्रतिशत की कटौती की गई है। आइए पिछले पांच वर्षों में महिला संबंधी स्कीमों में किए गए बजट आबंटन को देखें।

पिछले वर्षों के बजट आबंटन (महिलाओं के लिए)

वर्ष	2009 -10	2010 -11	2011 -2012	2012 -13	2013 -14	2014 -15	2015 -16
महिलाओं के लिए आबंटित संसाधन	56858	67750	78251	88143	97134	98030	79258

स्रोतः केंद्रीय बजट (करोड़ में)

ऊपर दी गई तालिका में आबंटन में एक नियमित सालाना बढ़ोतरी नज़र आती है। पर इस साल अचानक इसमें कमी दिखाई देती है। केंद्रीय सरकार ने इस वर्ष 2015-16 के बजट में सामाजिक स्कीमों पर किए जाने वाले खर्चों में कटौती की है।

लैंगिक असमानताः भारत विश्व के सबसे निचले देशों में

भारतीय महिलाओं की सामाजिक आर्थिक स्थिति वैश्विक स्तर पर कुछ अच्छी नज़र नहीं आती। यूएनडीपी (संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम) की लैंगिक असमानता सूची (जीआईआई) के अनुसार 152 देशों में से भारत 127वें नम्बर पर है। इस लैंगिक असमानता सूची में महिलाओं के प्रजनन स्वास्थ्य, सशक्तिकरण और आर्थिक दर्जे का जायज़ा लिया जाता है। महिलाओं के स्वास्थ्य के गिरते आंकड़े और उनका पिछड़ा सामाजिक दर्जा इस अंतर्राष्ट्रीय गणना में अपना परोक्ष प्रभाव डालता है।

स्वास्थ्य

सरकार ने महिलाओं के लिए बजट में लगभग 20% कटौती की है यानी लगभग 20,000 करोड़ की कमी। और तो और इस आबंटन का भी बड़ा भाग सरकार जनसंख्या नियंत्रण और दो-बच्चों के मानक को लक्ष्य बनाकर 'प्रजनन व बाल स्वास्थ्य' के खाते में जमा कर देती है।

बाल लिंग अनुपात और मातृ मृत्युदर के गिरते आंकड़े

- देश में गिरता बाल लिंग अनुपात भी एक गंभीर विषय है। 0-4, 0-6 वर्ष वर्ग समूह में 1000 लड़कों पर 976 लड़कियों (1976) से 918 लड़कियां (2011) हैं।
- जहां तक माताओं के स्वास्थ्य का सवाल है तो सहस्राब्दि विकास लक्ष्यों में मातृ-मृत्युदर अनुपात हर एक लाख जीवित जन्मों पर 140 दर्ज किया गया। सन् 2010-12 में यह दर 178 थी और अनुमानित है कि यह संख्या 2015 में 141 तक पहुंच जाएगी।

महिला साक्षरता

- 2011 की जनगणना के अनुसार भारत में महिला साक्षरता दर केवल 64.6 प्रतिशत है।

आधारभूत सुविधाएं

- हालांकि बजट में आधारभूत सुविधाओं के लिए 70000 करोड़ रुपयों का आबंटन है पर औरतों के रोज़मर्रा के बोझ को घटाने के लिए कोई प्रावधान नहीं है।
- औरतों द्वारा किया जाने वाला अवैतनिक काम जैसे खाना पकाना, देखभाल, साफ़-सफ़ाई, चारा-पानी लाना, घर में सब्ज़ी उगाना, पशुओं की सेवा करना ऐसा काम है जिसे काम की श्रेणी से बाहर रखा जाता रहा है।
- इसी तरह पैदल चलने वाली औरतों के लिए फुटपाथ; सुरक्षित यातायात शौचालय; बुजुर्ग औरतों के लिए आश्रयघर जैसी अहम ज़रूरतों के लिए बजट में कोई प्रावधान नहीं है।

महिला व बाल विकास बजटः आधे से भी कम

- यूपीए सरकार के पिछले बजट आबंटन से इस बार के बजट में महिलाओं के लिए कार्यक्रम के लिए नियत धनराशि में कमी नज़र आई है।
- महिला व बाल विकास मंत्रालय का बजट आधे से भी कम किया गया है।
- राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार योजना जैसे सफल कार्यक्रमों में भी कटौती की गई है। पुरानी स्कीमों में कटौती करने के साथ-साथ नई स्कीमों को भी पूरी तरह लागू नहीं किया गया है।

निर्भया फंडः 1000 करोड़ में से सिर्फ़ 321 करोड़ का इस्तेमाल

2012 के दिल्ली बलात्कार कांड के बाद भारत सरकार ने बजट 2013-14 में 1000 करोड़ की लागत वाले फंड की स्थापना की। लेकिन अभी तक इस राशि में से केवल 321.69 करोड़ रुपये का इस्तेमाल किया गया है। इस फंड का उपयोग महिलाओं को आपातकालीन सहयोग प्रदान करने के लिए 'जीपीएस सिस्टम' लागू करने के लिए पुलिस को प्रदान किया गया है।

सरकार के सामने महिला सुरक्षा एक बड़ी चुनौती है। रवैयों व व्यवहारों पर किए गये अनेक अध्ययन महिलाओं के साथ होने वाली हिंसा की एक दुखद तस्वीर पेश करते हैं। इस सब सच्चाइयों को देखते हुए बजट में कटौती भारत के लैगिंक विकास लक्ष्य पर गंभीर नकारात्मक प्रभाव डालेगी।

महिला व बाल विकास स्कीमों में कटौती

मंत्रालय	स्कीम	अंतरिम बजट 2014-15	बजट 2015-15
ग्रामीण विकास	राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार मिशन	33364	2382.16
मानव संसाधन	सर्वशिक्षा अभियान	27634.7	2200
विकास मंत्रालय	मिड डे मील	13152	1461.4
	राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान	4965.5	367
महिला व बाल विकास	आईसीडीएस	18170.7	8345.77
	राजीव गांधी किशोरी सशक्तता स्कीम	689.65	10
	इंदिरा गांधी मातृत्व सहयोग योजना	400	433

स्रोतः बजट 2015-16 आंकड़े (करोड़ में) 10 करोड़ केन्द्रीय सरकार से आबंटित है। राज्यों को निर्भया फंड द्वारा धनराशि प्रदान की जाएगी।

महिलाओं के लिए नई स्कीम 2015-16

नाम	विवरण	मंत्रालय
महिला सुरक्षा के लिए निर्भया फंड	महिला सुरक्षा के लिए	वित्त
ऐपरेंटिस कॉलेज़ फ़ार विमेन	—	—
सुकन्या समृद्धि योजना	'बेटी पढ़ाओ, बेटी बचाओ अभियान' का हिस्सा	
'बेटी पढ़ाओ, बेटी बचाओ'	बालिका शिशु कल्याण शिक्षा के लिए	महिला व बाल विकास

स्रोतः बजट 2015-16 (आंकड़े करोड़ में)

सौम्या तिवारी *और* ***प्राची साल्वे*** *पत्रकार हैं।*

पुस्तक परिचय

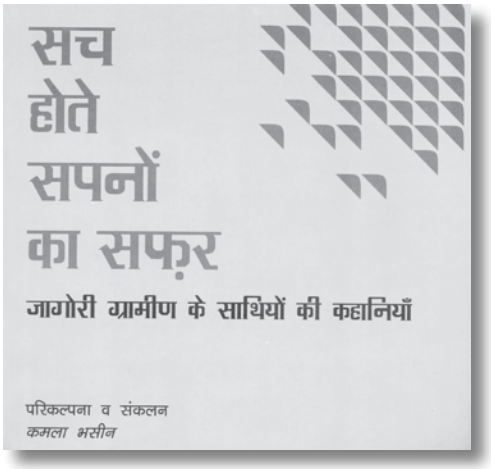

आशा

"*मेरा नाम आशा है।* 1998 में मेरा परिवार रक्कड़ आया। मां ने हर रविवार के दिन निष्ठा नामक संस्था की संचालक डॉ. बारबरा के घर काम करना शुरू कर दिया। मुझे सिलाई का थोड़ा बहुत ज्ञान था सो मैं भी कभी-कभी मां के साथ काम पर चली जाती थी और वहां पर मां के काम में हाथ बंटाती। हमारे पड़ौस में एक लड़की रहती थी, सुमन। उससे मेरी दोस्ती हो गई।

एक दिन मुझे सुमन ने बताया कि यहां पर *जागोरी* नाम की संस्था काम करना चाहती है और उन्हें लोगों की ज़रूरत है। उसने मुझे प्रार्थना पत्र देने को कहा। अगले दिन मुझे *जागोरी* में बुलाया गया और कहा कि शिमला में सामाजिक लिंग भेद पर 10 दिन की कार्यशाला है जहां मुझे सुमन के साथ जाना है।

शिमला में 10 दिन की ट्रेनिंग ली जहां मैंने समझा कि सामाजिक लिंग भेद क्या है। शिमला से वापिस आई तब *जागोरी ग्रामीण* ने मुझे कुछ और काम करने को दिया। अब हमें *जागोरी* के बारे में आस-पास के गांवों में बताना था।

शुरू में सब रिश्तेदारों ने मेरा इस तरह की नौकरी करने का विरोध किया। *जागोरी* में आने के बाद मुझे अपनी बात कहने की हिम्मत मिली। काम करते-करते मेरे अन्दर बहुत से बदलाव आए हैं। मैं अब सिर्फ़ एक पहलू के बारे में नहीं सोचती। मेरे शौक भी बदले हैं।

मेरे इस तरह के काम करने से मैं पूरे समाज को या गांव का बदलने का तो दावा नहीं कर सकती, पर हां मैंने अपने आप को बदला है। मेरी मां भी यह बात कहती हैं कि "मेरे समय में अगर ऐसी संस्थाएं होती तो मैं कभी भी शादी नहीं करती।"

बबली देवी

"*मेरा नाम बबली देवी है।* मेरा गांव शाहपुर से 30 कि.मी. दूर है। मैं इस संस्था में यह सोचकर आई कि मुझे भी अच्छी जानकारी प्राप्त होगी और मुझे आगे सीखने का मौका मिलेगा।

जब मैं *जागोरी* शाहपुर में आती थी तो मुझे ऐसा लगने लगा कि मैं आगे पढ़ाई कर सकती हूं। मैंने एक बार मंजू दीदी और सुधा दीदी से बात की और उन्हें कहा, मैं आगे पढ़ाई करना चाहती हूं। उन्होंने मेरा हौसला बढ़ाया। उसके बाद मैंने कमप्यूटर सीखा। कमप्यूटर सीखकर मेरा आत्मविश्वास बढ़ गया।

जागोरी ग्रामीण में नौकरी के बारे में मेरे परिवार वालों को यह लग रहा था कि अब तो हमारी लड़की को नौकरी मिल गई है। अब अगर हमारे पास कभी कुछ नहीं होगा तो हमारी लड़की हमें संभाल सकती है।

मैंने अपने काफ़ी सारे हुनर चमकाए हैं। मैंने पढ़ाई की, नौकरी की और अब मैं और पढ़ाई करके और कुछ हासिल करना चाहती हूं। अब नेतृत्व की भावना और गुण आए हैं। अब मैं भी अपने आप को क़ाबिल समझती हूं। अब मेरे गांव के सब लोग कहते हैं कि हमारे गांव में यह पहली लड़की है जो नौकरी के साथ-साथ पढ़ाई भी कर रही हैं।

जागोरी के अन्दर का माहौल बहुत ही अच्छा है। यहां किसी को बड़ा-छोटा नहीं समझते। सभी को आगे आने का मौका देते हैं। सभी मिलकर एक दूसरे की मदद करते हैं। मैं आशा करती हूं मैं भविष्य में भी जो सोचूंगी वो भी *जागोरी ग्रामीण* की मदद से पूरा कर पाऊंगी।"

पुस्तक की एक झलक

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक	:	सच होते सपनों का सफ़र
परिकल्पना व संकलन	:	कमला भसीन
भाषा	:	हिन्दी
प्रकाशक	:	जागोरी ग्रामीण
पृष्ठ	:	248

पुस्तकों के महासागर में बड़े-बड़े मंचों पर चमकने और उपलब्धियां हासिल करने वाले सितारों के साक्षात्कारों और जीवनियों की भरमार है लेकिन ज़मीन से जुड़ कर काम करने वाले छोटे-छोटे कार्यकर्ताओं को उनके सीमित दायरे के बाहर कोई नहीं जानता। किसी भी नेता, संस्था या आंदोलन के पीछे इन्हीं अनाम कार्यकताओं की मेहनत होती है। ऐसे ही कुछ अनाम चेहरों को नाम और पहचान देने की कोशिश इस पुस्तक में की गई है।

हिमाचल प्रदेश में सक्रिय—*जागोरी ग्रामीण* के छोटे बड़े सभी कर्मियों के जीवन के ऊबड़-खाबड़ रास्तों की कहानियां इस किताब में उन्हीं के अनगर शब्दों में प्रस्तुत की गई हैं। ग़रीबी व गांव-देहातों में पले-बढ़े, पारम्परिक रीति-रिवाजों और सोच की बेड़ियों से बंधे इन युवाओं के छोटे-छोटे क़दम भी उनके परिवेश के लिए किसी क्रांति से कम नहीं है।

परिवार को समझा-बुझाकर, सामना या विरोध कर घर से बाहर निकलना, नारीवादी संस्था से जुड़ना, नए मूल्यों को जानना और सीखना, अपने जीवन की दिशा और फ़ैसले अपने हाथों में लेना, भीतर छिपी अनेकानेक असुरक्षाओं, शंकाओं और डरों से जूझना और फिर बड़ी सादगी और सच्चाई से उसे बयान करना, वाकई क़ाबिले तारीफ़ है। इतनी ही तारीफ़ की हक़दार कमला भसीन हैं जिन्होंने साधारण में असाधारण की खोज की। उन्हें सामने आकर अपनी बात कहने और किताब के पन्नों पर छपने का मौक़ा दिया।

'सच होते सपनों का सफ़र' ग्रामीण परिवेश से निकली किताब है। इसकी भाषा सरल, भावनाएं सच्ची और कोशिश ईमानदार है। ये छोटे-छोटे संघर्ष, उन्हीं परिस्थितियों में जी रहे युवाओं के लिए प्रेरणास्रोत बन सकते हैं। व्यक्तिगत अनुभवों की कथाएं पुस्तक को पढ़ने में रोचक बनाती हैं। कमला भसीन और आभा भैया के वक्तव्यों से संस्था और कार्यकर्ताओं की पृष्ठभूमि, उनके लक्ष्य और भविष्य के स्वप्न उजागर होते हैं।

कुल मिलाकर यह पुस्तक न सिर्फ़ धरातल से जुड़ी संस्थाओं, कार्यकर्ताओं के लिए अच्छी पठन सामग्री साबित हो सकती है बल्कि शहरी मध्यवर्गीय संस्थाओं व कर्मियों को ग्रामीण सच्चाइयों से रूबरू कराने का भी उपयोगी साधन हो सकती है।

वीणा शिवपुरी

वीणा शिवपुरी *लेखिका व हम सबला की वरिष्ठ सदस्या हैं।*

प्रतियों के लिए संपर्क करें:

अनूप, द्वारा जागोरी ग्रामीण, ग्राम रक्कड़ सिद्ध बाड़ी, ज़िला कांगड़ा-176057 हिमाचल प्रदेश

महावीर सिंह, जागोरी
फ़ोनः 011-26691219/20 • distribution@jagori.org

फ़िल्म का नाम : मार्गरीटा विद अ स्ट्रॉ

भाषा : हिन्दी

अवधि : 100 मिनट

निर्देशन : शोनाली बोस/निलेश मनियर

भारत में जब भी हम पुरुष के स्वस्थ-बलवान शरीर की बात करते हैं तो उसकी तुलना स्त्री के कमज़ोर और नाज़ुक शरीर से की जाती है। पितृसत्तात्मक सामाजिक मानकों के अनुसार स्त्री शरीर में एक बुनियादी कमी है— लिंग की गैर-मौजूदगी। इसी एक अंग की कमी स्त्री शरीर को कमतर बना देती है और लिहाज़ा उसकी सुरक्षा का दारोमदार पुरुष पर आ जाता है। और इस कमतरी में अगर कोई एक और अंग विहिनता जुड़ जाए तो उसे विकलांग करार दे दिया जाता है। ऐसे में सहानुभूति और दया की पात्रता उस व्यक्ति के लिए काफ़ी हद तक बढ़ जाती है।

हिन्दी सिनेमा ने अब तक विकलांगता को अंधी लाचार मां, चलने में असमर्थ बैसाखी पर आश्रित बहन और बहरी-अंधी लड़की के रूपों में ही प्रस्तुत किया है। इन किरदारों के प्रति दशक मन में सहज ही हमदर्दी पनपती है।

फिर इन सभी नियामक मापदण्डों को चुनौती देती हुई फ़िल्म 'मार्गरीटा विद अ स्ट्रॉ' आती है जो हमें अपने इर्द-गिर्द बुनी हुई कुंठाओं और मान्यताओं से बाहर निकलने के लिए मजबूर कर देती है। यह फ़िल्म एक विकलांग लड़की लैला (कल्की कोएच्लिन) के परिपक्व होने की दास्तान है जिसे 'सेलेब्रल पॉल्सी' है। पर व्हीलचेयर का बटन दबाकर यहां— वहां घूमती लैला कोई उदास या जीवन से बेज़ार युवती नहीं है। वह अपना जीवन पूरी तरह से जीती है और उसकी मां (रेवती), पिता और छोटा भाई उसके इस जीवंत सफ़र में उसके साथ हैं। अपनी उम्र की दूसरी लड़कियों की तरह लैला कालेज जाती है, संगीत की धुन और गीत रचती है, ज़िद करती है और अपने सपने पूरा करने का हौसला रखती है।

फ़िल्म की सबसे दिलचस्प बात यह है कि यहां लैला के सपने नहीं बल्कि उसकी यौनिकता की खोज सर्वोपरि है। अपनी इसी तलाश में लैला एक विकलांग दोस्त के साथ यौनिक पहल करती है, एक समलैंगिक लड़की के साथ यौन संबंध बनाती है और एक अंग्रेज़ लड़के के साथ भी संभोग करती है। वह इन सभी संबंधों के माध्यमों से खुद अपनी यौनिक संतुष्टि तलाशती है और अपनी यौनिकता को समझने का प्रयास करती है। ये रिश्ते भावनात्मक प्यार के संबंध नहीं हैं बस एक शारीरिक ज़रूरत को पूरा करने का साधन मात्र है। यही फ़िल्म की अनोखी बात है जो इसे दूसरी फ़िल्मों से अलग बनाती है।

एक विकलांग, कामोत्तजक लड़की की यौनिकता का यह वृतांत दर्शकों के मन में उसकी विकलांगता की सच्चाई को पीछे ढकेल देता है और इस युवती के लिए मन में सहानुभूति और दया की जगह एक खुशहाल जीवटता का आभास पैदा करता है।

इस लीक से अलग रची गई फ़िल्म में कुछ और ऐसी बातें हैं जो सामान्य से हटकर हैं। लैला की मां लैला

की सबसे सशक्त बुनियाद है। वह गाड़ी चलाती है; उसे कॉलेज छोड़ने से लेकर नहलाने, बाल बनाने और विदेश जाकर पढ़ने में सहयोग करती है। लैला की मां को कैंसर है लेकिन यह सच्चाई फ़िल्म के अंत में ही दशकों तक पहुंचती है। लैला के पिता एक कोमल व्यक्तित्व वाले पुरुष हैं जो गीत गाते हैं, रोते हैं और परिवार की समस्याओं को चुपचाप ख़ामोशी से सहते रहते हैं। पारम्परिक परिवार की छवि से अलग इस परिवार में स्त्री पात्र अधिक सशक्त और सबल हैं।

फ़िल्म में लैला और उसकी साथी खानम (सयानी गुप्ता) का यौनिक रिश्ता एक राजनैतिक प्रदर्शन के दौरान शुरू होता है। धीरे-धीरे लैला और खानम अपनी शारीरिक ज़रूरतें एक दूसरे के साथ पूरी करती हैं। फ़िल्म के कथानक में एक अहम दृश्य में लैला और खानम की मुलाकात एक ऐसी जगह होती है जो एक विरोध स्थल है। दोनों लड़कियों का यह सामान्य-विरोधी यौनिक रिश्ता यहीं से शुरू होता है। जैसे-जैसे पटकथा आगे बढ़ती है दर्शक जान जाते हैं कि खानम आम लड़कियों से अलग है। वह क्रिकेट खेलती है जो कि पूरी तरह से पूर्ण स्वस्थ और बलवान शरीर वाले लड़कों द्वारा खेला जाने वाला खेल है। एक ओर खानम जीवन

में विकल्प तलाशती है और सामाजिक मानकों का विरोध करके उन्हें चुनौती प्रदान करती है। पर दूसरी ओर पितृसत्तात्मक मानक उसके मन में भी गहरे पैठे हैं। वह लैला के किसी दूसरे पुरुष के साथ यौन रिश्ते की सच्चाई को स्वीकार नहीं कर पाती और यह मान लेती है कि उसके अलावा किसी दूसरे के साथ लैला का यौनिक रिश्ता उसकी भावनात्मक बेवफ़ाई का सबूत है।

फ़िल्म का अंत लैला की मां की मौत और खानम के उसे छोड़कर चले जाने के साथ होता है। इन दोनों भावनात्मक रिश्तों के खत्म हो जाने पर लैला मायूस या उदासीन नहीं होती। वह खुश है अपने आप के साथ। अकेली बैठकर, प्लास्टिक के कप में, स्ट्रॉ के साथ मार्गरीटा पीती हुई लैला हमें अहसास कराती है कि वास्तविक जीवन सीधा-साधा नहीं होता। वह स्ट्रॉ की तरह जटिल, तुड़ा-मुड़ा और उमंग भरा हो सकता है बशर्ते हम उसे खुलकर जीने का हौसला रखते हों।

सिनेमा जगत में शायद यह पहली बार हुआ है कि विकलांग लड़की की यौन इच्छा पर केंद्रित करके कोई फ़िल्म बनाई गई हो। मेरे विचार में यह फ़िल्म कुछ ऐसे महत्वपूर्ण सवालों पर हमें सोचने को बाध्य करती है जिन पर कभी हमारा ध्यान ही नहीं जाता। अभिनय के नज़रिए से कल्की और रेवती ने अपने किरदारों के साथ पूरा न्याय किया है। बाकी सभी कलाकारों ने भी अपनी-अपनी भूमिका को ईमानदारी से निभाने की कोशिश की है। कुल मिलाकर कहें तो यह एक बेहतरीन फ़िल्म है जो एक ऐसे मुद्दे को उठाती है जिस पर हम सभी को विचार-विमर्श करने की ज़रूरत है।

जुही जैन

तारों की किताब

पवन करण

तारों की किताब में विस्मय ही विस्मय
मैं जो खोलकर बैठा उसे बांचने

लड़कियां जिन्होंने तारों को तोड़-तोड़कर
गिप्पे बना लिए
खेल रहीं उनसे गिटोलिया
कुछ लड़कियां मशगूल उनसे बने
पिचकुट्ठे खेलने में, कुछ लंगड़ी।
उनकी हंसी में खिल-खिलाहट तारों की
खेल में हारती एक लड़की की आंख में
डबडबा रहा तारा जिसे छुपाने की
कर रही वह कोशिश भरसक।

एक स्त्री अपने बालों में गूंथ रही तारे
गूंथते हुए गाए जा रही कोई गीत
उस वक़्त आइने में तारे की तरह दमकता
दिखाई दे रहा उसे अपना अधेड़ चेहरा।

लड़के एक-दूसरे को अपनी जेबों से
दिखा रहे तारे निकालकर और कर रहे
आपस में उनको लेकर बहस
और कुछ इस फ़िराक में किसी तरह
छोड़ते हुए सबको पीछे इन तारों की
बनाकर सीढ़ी चढ़ जाया जाए ऊपर।

एक लड़का एक तरफ खड़ा बेहद चमकीले
तारे को चुराकर भाग जाने और उसे अपनी
प्रेमिका के क़दमों में रख आने की रहा सोच।

एक बूढ़ा अपने सिर पर तारे की टोपी पहने
शान से घूम रहा बाज़ार में
उसकी जेब में खनक उनकी।

एक पेड़ जिस पर पक चुके तारे
चिड़िया उन्हें खा रही कुतर-कुतर
खूंटे की तरह ज़मीन में गड़े तारे से बांध
देर से हिनहिना रहा एक घोड़ा
नदी जिसमें तारों की खाल ओढ़े
मछलियां तैर रही हंसमुख
पानी के तल में दमक रहे तारे कई टुकड़े
उन पर चढ़ती काई उन्हें बना रही
शब्दों की तरह और भी चमकीला।

तारों की किताब जो मेरे हाथ लगी अनायास
अक्सर जिसे बांचता मैं चुपचाप
और हर बार उसे रख देता छुपाकर
बावजूद इसके कि तारों की किताब में
कोई जगह नहीं ऐसी जहां किसी ने
छुपाकर रखा हो तारों का जरीया।

पवन करण, *हिन्दी साहित्य के मशहूर कवि हैं।*

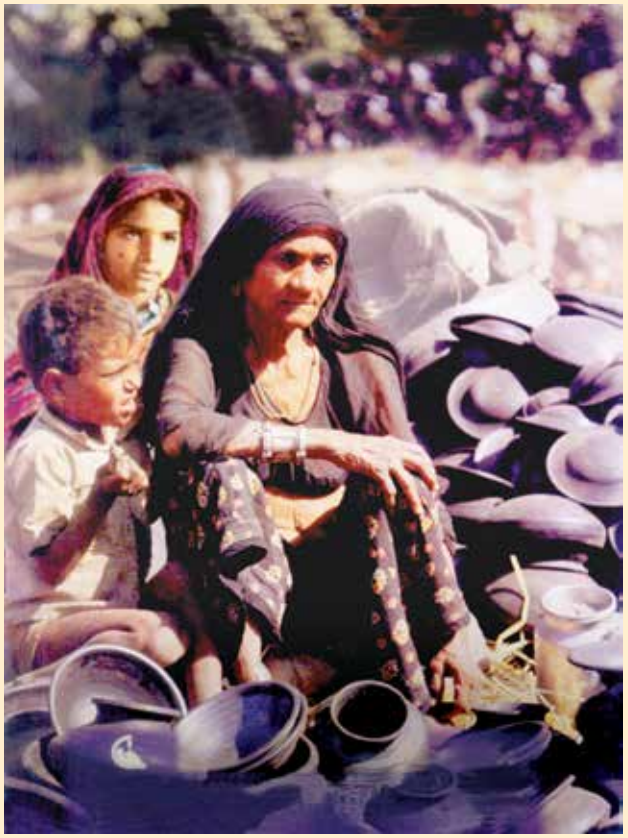

स्वस्थ होने का अर्थ
केवल रोगों से मुक्ति नहीं
बल्कि खुशहाली का सम्पूर्ण
अहसास होना है।

सभी पोस्टरः चेतना